हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९६९ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● स्वामी प्रणवानन्द

सह-सम्पादक ● सन्तोषकुमार झा

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(सहस्रद्वीपोद्यान, अमेरिका, जुलाई १८९५)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर २.

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ७] अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर [अंक ४
वार्षिक शुल्क ४) ★ १९६९ ★ एक प्रति का १)

हमीं अपने मित्र और शत्रु

उद्धरेत् आत्मनात्मानं
नात्मानम् अवसादयेत् ।
आत्मैव हि आत्मनो बन्धुः
आत्मैव रिपुरात्मनः ॥

—मनुष्य अपने द्वारा अपना उत्थान करे, अपने द्वारा अपने को न गिराये; क्योंकि वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु ।

—गीता, ६।५

उद्धरेत् आत्मनात्मानम्

नदी के तीर पर एक गाँव था। नदी में जब बाढ़ आती, तब गाँव डूब जाता और ग्रामवासियों की बड़ी क्षति होती। वहाँ से दूर जाने का भी कोई उपाय न था, क्योंकि नदी के तट की जमीन बड़ी उपजाऊ थी। लोग उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। जमीन के ही लोभ से वे वहीं रहते और बीच बीच में आनेवाली विपत्तियों को सहा करते।

उसी गाँव में एक किसान रहता था। था तो निर्धन, पर परिश्रम पर्याप्त कर सकता था। उसका भी घर बाढ़ के समय गिर जाता और जो कुछ थोड़ा-बहुत वह बचाकर रखता, उसे जल का प्रवाह बहाकर ले जाता।

गाँव के समीप ही एक टेकड़ी थी। ग्रामवासी किसी अज्ञात भय के कारण उस टेकड़ी के पास नहीं जाते थे। पर इस किसान ने बाढ़ से तंग आकर उस टेकड़ी पर ही घर बनाने का निश्चय किया। उसने मिट्टी से टेकड़ी पर एक झोपड़ी बनायी। झोपड़ी बनी तो मिट्टी की थी, पर किसान ने उसके लिए बड़ा परिश्रम किया था।

झोपड़ी के तैयार होने के कुछ दिन बाद जोरों की आँधी आयी। उस प्रबल झंझावात में झोपड़ी चर-

मराने लगी और उसकी हालत अब-तब होने लगी। यह देख किसान चिन्ताकुल हो उठा और झोपड़ी को नष्ट होने से बचाने के लिए पवन देवता से प्रार्थना करने लगा, "हे पवन देवता! मुझ गरीब पर रहम करो। झोपड़ी को बचा लो, नहीं तो मैं बेसहारा हो जाऊँगा।"

पर पवन देवता ने किसान की बात अनसुनी कर दी। वे उसी प्रकार अपनी आँधी से झोपड़ी को डावाँ-डोल करते रहे। इतने में किसान को एक चालाकी सूझी। उसे ख्याल आया कि हनुमान तो पवन देवता के तनय हैं। बस, फिर से वह पवन देवता को सम्बोधित कर गिड़गिड़ाता हुआ चिल्लाने लगा, "हे पवन देवता, झोपड़ी को मत गिराओ। हनुमानजी ही इस झोपड़ी के मालिक हैं। मैं बारम्बार तुमसे अनुनय-विनय करता हूँ कि इस झोपड़ी की रक्षा कर लो।"

फिर भी पवन देवता नहीं माने और झोपड़ी जोरों से चरमराने लगी। किसी भी देवता को मानो किसान की प्रार्थना सुनने की फुरसत नहीं थी। किसान बारम्बार चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा, "दुहाई तुम्हारी, घर हनुमानजी का है, बचा लो!" पर आँधी का प्रकोप नहीं थमा। इतने में उसे ख्याल आया कि हनुमानजी तो रामजी के अनन्य सेवक हैं और लक्ष्मणजी रामजी के छोटे भाई हैं। जी-जान से चिल्लाकर हताशा के स्वर में वह बोला, "यह घर

लक्ष्मणजी का है ! देखना, नष्ट न करना ।" पर उससे भी कोई काम न बना । अन्त में और कोई उपाय न देख वह मायूसी के स्वर में कहने लगा, "दुहाई रामजी की ! यह झोपड़ी रामजी की है, पवन देवता ! इसे तोड़ो मत । तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, इसकी रक्षा कर लो ।" पर यह उपाय भी कारगर न हुआ । आँधी के प्रबल झोंके में झोपड़ी बाँस के समान काँपने लगी ।

जब किसान ने देखा कि कोई देवता प्रार्थना सुनता ही नहीं है और झोपड़ी अब चरमराकर गिर ही जायगी, तो उसे अपने प्राण बचाने की चिन्ता हुई । वह झोपड़ी के बाहर निकल आया और झोपड़ी को लात मारते हुए बोला, "धत्तेरे की ! जा मर ! यह शैतान का घर है !"

इस कथा का मर्म यह है कि लोग ईश्वर के नाम में भी चालाकी करते हैं । असल में ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो स्वयं काम में जुटे हुए हैं । खुद निठल्ले बैठकर ईश्वर को पुकारना व्यर्थ है । अपना उद्धार मनुष्य स्वयं करता है, स्वयं ही वह अपनी रक्षा करता है । उसकी निष्ठा देखकर दैव भी उसके सहायक होते हैं । चालाकी से कोई काम नहीं बनता ।

●

तत् त्वमसि

स्वामी प्रभवानन्द

(स्वामी प्रभवानन्दजी वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न कैलिफोर्निया, हालीवुड, अमेरिका के अध्यक्ष हैं। उन्होंने अमेरिका में एक व्याख्यान दिया था, जो प्रस्तुत लेख के रूप में 'प्रबुद्ध भारत' नामक अंग्रेजी मासिक पत्रिका के मार्च १९६५ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार गृहीत हुआ है। इस लेख में वेदान्त के महावाक्य 'तत्त्वमसि' पर साधक के लिए व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया गया है। ——सम्पादक)

मैंने उपनिषदों की एक महान् उक्ति को यहाँ पर विचारार्थ लिया है। हम इन उक्तियों को महावाक्य कहते हैं। इन महावाक्यों के पीछे शक्ति होती है। जब किसी साधक को संन्यास की दीक्षा दी जाती है तो गुरु अपने सम्प्रदाय के अनुसार इनमें से किसी एक महावाक्य का उच्चारण करते हैं। महावाक्यों की संख्या चार है। अर्थ तो सबका एक ही सा है पर शब्द भिन्न भिन्न हैं। वे हैं— (१) तत्त्वमसि (वह तुम हो); (२) अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ); (३) प्रज्ञानं ब्रह्म (प्रज्ञान ब्रह्म है); (४) अयम् आत्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है)। ये सभी इसी एक परम सत्य की अभिव्यंजना करते हैं कि तुम वही आत्मा हो, ब्रह्म से एकरूप हो।

इस सत्य की धारणा करना बड़ी कठिन बात है; क्योंकि यह अनुभूति की अपेक्षा रखता है। जब तक हम

हृदय के अन्तरतम प्रदेश में इस सत्य का अनुभव नहीं कर लेते, तब तक उसकी धारणा नहीं हो पाती। वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण ने धर्म के इस सत्य पर जोर दिया; उन्होंने अनुभूति को समस्त धर्मों का सार निरूपित किया और कहा, 'विद्वत्ता के सहारे सत्य को नहीं जाना जा सकता, न सूक्ष्म तर्क-युक्ति द्वारा ही उसे पाया जा सकता है और न शास्त्रों के अध्ययन द्वारा ही। यह सत्य शास्त्रों से परे है, अभिव्यक्ति के दायरे से बाहर है।' उन्होंने पुन: पुनः घोषणा की, 'तुम ईश्वर को देख सकते हो; जिस प्रकार मैं तुम्हें अपने सामने देख रहा हूँ उससे कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से तुम उन्हें देख सकते हो। तुम ईश्वर से बातचीत कर सकते हो, और उनसे एकरूप हो सकते हो।' ईश्वर से तादात्म्य लाभ करना, 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अनुभूति करना सबसे परम अनुभूति है, वही परम सत्य है और समग्र सत्य का दर्शन है।

मैंने ऊपर श्रीरामकृष्ण की वाणी उद्धृत की है कि 'ईश्वर को देखा जा सकता है, तुम उनसे बातचीत कर सकते हो।' इस स्थिति में जिस प्रकार का अनुभव होता है वह 'तत्त्वमसि' के अनुभव से भिन्न है। सत्य के पास जाने के विभिन्न मार्ग हैं, जिन्हें मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद। एक बार भगवान् राम ने भक्तराज हनुमान से पूछा, 'तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?' हनुमान

ने उत्तर दिया, 'देहदृष्टया त्वदासोऽहं जीवबुद्धया त्वदंशकः। आत्मबुद्धया त्वमेवाहम् इति मे निश्चिता मतिः।'—अर्थात्, 'जब मैं अपने को देहधारी के रूप में सोचता हूँ तो आप स्वामी हैं और मैं दास हूँ; जब मैं अपने को जीव समझता हूँ तो आप पूर्ण हैं और मैं अंश; पर जब मैं अपने को आत्मस्वरूप समझता हूँ तब मेरी यही निश्चित धारणा होती है कि मैं आपसे भिन्न नहीं हूँ।' ईसा मसीह ने भी मानो इन्हीं तीन सोपानों की बात की है। उदाहरणार्थ, उन्होंने स्वर्गस्थ पिता से प्रार्थना करते हुए कहा, 'ऐ हमारे स्वर्गस्थ पिता!' फिर किसी दूसरे समय उन्होंने कहा, 'मैं बेल हूँ और तुम लोग उसकी शाखाएँ।' फिर तीसरे समय उन्होंने कहा, 'मैं और मेरे पिता एक हैं।'

पर जिस समय यह कहा जाता है कि 'मैं और मेरे पिता एक हैं', तो समझने में एक जबरदस्त भूल की जाती है। जैसे, जब हम कहते हैं कि वेदान्त ईश्वर के साथ एकरूपता में विश्वास करता है, तो पूछा जाता है, 'मैं इस जगत् का सृजन और धारण करनेवाले ईश्वर के साथ एकरूप होने का दावा कैसे कर सकता हूँ? मैं भले ही आत्मा का अनुभव कर लूँ, पर उसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं सर्जनहार ईश्वर के साथ एक हूँ? यह सम्भव नहीं है।' इसका उत्तर यह है कि मैं भले ही अपनी आत्मा को चरम सत्ता ब्रह्म के साथ तद्रूप अनुभव कर लूँ, पर इससे मैं सगुण ईश्वर के साथ एक नहीं हो जाऊँगा,

क्योंकि ईश्वर का सगुणत्व और मेरा जीवत्व ये दोनों पृथक् हैं। जब मैं अपनी आत्मा का अनुभव ब्रह्म के रूप में करता हूँ, तब विश्व उड़ जाता है, संसार का अस्तित्व नहीं रह जाता और भिन्न भिन्न जीव भी नहीं रह जाते।

मैं इसको और समझा दूँ। ब्रह्म चिद्घन और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। जब हम ब्रह्म को ब्रह्म के ही रूप में, यानी निर्गुण निरपेक्ष तत्त्व के रूप में देखते हैं, तो न तो सृष्टि है, न विश्व। ब्रह्म की धारणा कोई नहीं कर सकता। उसकी अनुभूति की जा सकती है, पर उस अनुभूति को शब्दबद्ध करना असम्भव है। वह तो गूँगे की उस चेष्टा के समान है कि वह बतलाये कि गुड़ किस प्रकार मीठा है।

अब प्रश्न यह है कि यदि ब्रह्म निरपेक्ष और अतीन्द्रिय है, तो यह विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? ब्रह्म अपनी शक्ति से समन्वित होकर इस संसार का सृजन करता है। हम इस शक्ति को प्रकृति या माया कहते हैं। जब इस शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तब सृष्टि होती है। ब्रह्म जब माया से समन्वित होता है तब उसे ईश्वर कहते हैं, यानी सगुण ईश्वर। जब मैं सगुण ईश्वर की बात करता हूँ तो उसके साथ, उस स्रष्टा के साथ मैं एकरूप नहीं हो सकता। तब सगुण ईश्वर के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं एक 'जीव' हूँ, व्यष्टि हूँ और ईश्वर समष्टि है। शक्ति से समन्वित ब्रह्म ईश्वर है और उस शक्ति के एक छोटे से भाग से समन्वित ब्रह्म जीव है।

तुम, मैं सभी जीव हैं। दूसरे शब्दों में, तुम ब्रह्म हो, पर माया के अंश से समन्वित और एकरूप होने के कारण जीव हो। ईश्वर के रूप में ब्रह्म माया पर शासन करता है, पर तुम और मैं, जीव के रूप में, माया के अधीन हैं क्योंकि हम अज्ञान में हैं, भ्रम में हैं। उस परम सत्य की अनुभूति के लिए हम माया के जिस अंश से समन्वित और एकरूप हैं, उसके ऊपर हमें उठना होगा।

जब तक मैं अपने को देह समझता हूँ, अपने को जीव मानते हुए यह सोचता हूँ कि 'मेरा वजन इतना है, आज मुझे उतना अच्छा नहीं लग रहा है', तब तक मैं ईश्वर से पृथक् हूँ। यह द्वैतवादी धारणा है। स्वामी विवेकानन्द विनोद करते थे, 'जब मुझे बहुत अच्छा लग रहा होता है, तब मैं ब्रह्म हूँ; और जब पेट की पीड़ा मुझे व्यथित करती है तब कहता हूँ--ओ माँ!' इसके बाद विशिष्टाद्वैतवाद का सोपान है, जब हम यह अनुभव करते हैं कि 'मैं जीव हूँ और उस समष्टिस्वरूप ईश्वर का अंश हूँ'। ईश्वर का अंश यानी सगुण ईश्वर का अंश, ब्रह्म का अंश नहीं। अव्यक्त और निरपेक्ष ब्रह्म के अंश नहीं हो सकते। अनन्त को टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता। जब मैं चरम अनुभूति की अवस्था प्राप्त करता हूँ, तब शरीर, मन और इन्द्रियों को लाँघ जाता हूँ और शुद्ध मन की भूमिका तक पहुँचता हूँ; तब मैं उस अनन्त सत्ता के साथ एकरूप हो जाता हूँ। इसे अद्वैतवाद कहते हैं। यह वास्तव में एक

अनुभूति है। किसी भी प्रकार के ज्ञान में द्वैत रहता ही है—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी रहती है। मैं कुछ देखता हूँ; वह देखा जानेवाला 'कुछ' और मैं दोनों भिन्न हैं। दार्शनिक कान्ट ने बतलाया कि जब तक हममें भिन्नता का बोध है, तब तक वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना नहीं जा सकता। वस्तु का रूप पूरी तरह उसके द्वारा मन पर उत्पन्न की गयी संवेदना पर आधारित होता है। हम इसी संवेदना को वस्तु के रूप में देखते हैं।

अतएव, परमसत्य का अनुभव ज्ञाता और ज्ञेय के माध्यम से नहीं होता। वह तो, शंकराचार्य के मतानुसार, 'त्रिपुटीभेद' के द्वारा होता है, जब ज्ञान की तीनों गाँठें खुल जाती हैं और ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीनों एकरूप हो जाते हैं। अंग्रेजी भाषा में इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए 'यूनिटरी कांशसनेस' इस शब्द-रचना का प्रयोग किया जाता है, पर इससे पूरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि हम ईश्वर का अनुभव करें ही क्यों? हम क्यों न ईश्वर में विश्वास मात्र कर लें और अच्छे रहें, अच्छा काम करें और जब मर जायँ तो स्वर्ग में जाकर सन्तों के साथ निवास करें? क्या यह अधिक सुविधाजनक धर्म न होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह न तो ईसाई धर्म है, न हिन्दू धर्म, न बौद्ध धर्म और न अन्य कोई धर्म ही।

वह तो धर्म की गलत धारणा है। उदाहरणार्थ, उस बुद्धिजीवी मैथ्यू आरनाल्ड की धर्मविषयक परिभाषा को ले लो। वे क्या कहते हैं ? यही कि 'नैतिक जीवन में भावुकता का थोड़ा सा पुट' ही धर्म है। तभी तो श्रीरामकृष्ण आये, ईश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार लिया और हमें पुनः स्मरण कराया कि सत्य की अनुभूति करनी पड़ती है। यह अनुभूति ही धर्म है। अपने समस्त मतवादों, सम्प्रदायों और सिद्धान्तों को फेंक दो और ईश्वर से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लो। ईश्वर का चिन्तन करो, उसे प्रेम करो, उसकी उपासना करो, उसका ध्यान करो और उससे युक्त हो जाओ। यही धर्म का सार-सर्वस्व है। स्वामी विवेकानन्द ने धर्म की बड़ी सुन्दर परिभाषा दी है। वे कहते हैं, "मनुष्य में स्वभाव से निहित देवत्व का प्रकटन ही धर्म है"।

कुछ संगठित धर्म ऐसे हैं जो चाहते हैं कि तुम अपने आपको कमजोर और पापी समझो। पर यदि तुम शास्त्रग्रन्थों के पास जाओ तो वे क्या कहते हैं ? उदाहरण के लिए बाइबिल को ही ले लो। 'साम्स' में कहा गया है--"तुम ईश्वर हो" (ई आर गॉड्स)। 'रोमन्स' में तुम पढ़ते हो--"स्पिरिट (आत्मा) स्वयं हमारी स्पिरिट के साथ इस बात की साक्षी है कि हम ईश्वर की सन्तान हैं; और यदि सन्तान हैं तो उत्तराधिकारी हैं, परमेश्वर के उत्तराधिकारी हैं, और ईसा मसीह के साथ साझे का उत्तराधिकार है।" तो, यदि ईसा मसीह ने अनुभव किया

कि 'मैं और मेरे पिता एक हैं', तो वह एक ऐसा अनुभव है जो तुम्हें और मुझे भी अवश्य प्राप्त होना चाहिए।

अतएव मैंने पहले ही कहा कि अनुभूति ही सत्य की कसौटी है, और जब तक मुझमें जीवत्व का बोध है तब तक यह कहना मूर्खता और अवांछनीय ही होगा कि मैं—एक व्यक्ति—ईश्वर हूँ। साधारण जीवत्व की दशा में मैं शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ एकरूप हूँ। इस अवस्था में मैं ब्रह्म से अपनी तद्रूपता का दावा कैसे कर सकता हूँ? उपनिषद् हमें ईश्वर-दर्शन का पथ प्रदर्शित करते हैं। वहाँ यह भी बताया गया है कि लोगों को सत्य की भ्रान्त धारणा कैसे हो जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में हमें निम्नोक्त कथा प्राप्त होती है:—

प्रजापति ने ऐसा कहा कि जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसे खोजना चाहिए और उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। जो उस आत्मा को शास्त्र और गुरु के उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

देवताओं और असुरों दोनों ने इस बात को सुना और वे अपने अपने मन में सोचने लगे, 'हम उस आत्मा को खोजें और उसे जान लें जिससे कि हम सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों को प्राप्त कर लें।'

ऐसा निश्चय कर देवताओं का राजा इन्द्र और

असुरों का राजा विरोचन ये दोनों हाथों में समिधाएँ लेकर प्रजापति के पास आये। उन्होंने प्रजापति के समीप शिष्य-भाव से बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया। तदनन्तर प्रजापति ने उनसे पूछा, 'तुम यहाँ किस इच्छा से रहे हो ?' दोनों ने उत्तर दिया, 'भगवन् ! हमने आपका वचन सुना है कि जो आत्मा को खोजकर जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है। हम इस आत्मा को जानने के उद्देश्य से ही यहाँ रहे हैं।'

इस पर प्रजापति ने उनसे कहा, 'यह जो पुरुष नेत्रों में दिखायी देता है, यही आत्मा है; यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है।'

उन दोनों ने पूछा, 'भगवन् ! यह जो जल में सब ओर प्रतीत होता है और जो दर्पण में दिखायी देता है उनमें आत्मा कौन-सा है ?'

प्रजापति बोले, 'मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुष का वर्णन किया है वही इन सबमें सब ओर प्रतीत होता है। अच्छा, जाकर जल में अपने को देखो और जो न जान सको वह आकर मुझे बतलाओ।'

इन्द्र और विरोचन दोनों ने जल में अपनी परछाईं देखी। वे प्रजापति के पास लौटकर बोले, 'भगवन् ! हमने आत्मा को देख लिया, यहाँ तक कि हमने केश और नख भी देखे।'

तब प्रजापति ने उनसे कहा, 'तुम अच्छी तरह

सज-धजकर, सुन्दर वस्त्र पहनकर और साफ-सुथरे होकर फिर से जल में देखो।' दोनों ने ऐसा ही किया और प्रजापति के पास आकर कहा, 'हमने आत्मा को देख लिया। वह ठीक हमारी ही तरह है, अच्छी तरह सजा-धजा और सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए है और साफ-सुथरा है।'

इस पर प्रजापति बोले, 'वास्तव में आत्मा ही इनमें दीख पड़ता है। आत्मा अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है।' यह सुनकर इन्द्र और विरोचन दोनों सन्तुष्ट होकर चले गये।

किन्तु प्रजापति ने उन दोनों को लौटते देख, दुःख करते हुए कहा, 'ये दोनों आत्मा को ठीक ठीक जाने बिना ही लौटे जा रहे हैं। जो आत्मा को गलत ढंग से जानेगा, उसकी दुर्गति होगी।'

उधर विरोचन यह सोचकर सन्तुष्ट था कि उसने आत्मा को जान लिया है। वह असुरों के पास लौटकर, आत्मविद्या का उपदेश करते हुए बोला, 'इस लोक में देह ही पूजनीय है और देह ही सेवनीय है। देह की ही पूजा और परिचर्या करने वाला पुरुष इहलोक और परलोक दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है।'

ऐसा सिद्धान्त वास्तव में आसुर ही है!

किन्तु इन्द्र जब देवताओं के पास वापस जा रहे थे तो उन्हें प्रजापति के पास उपलब्ध ज्ञान की व्यर्थता दिखायी देने लगी। वे सोचने लगे, 'जिस प्रकार इस

शरीर के अच्छी तरह सजने-धजने पर यह आत्मा भी अच्छी तरह सजता-धजता है, सुन्दर वस्त्रधारी होने पर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और साफ-सुथरा होने पर साफ-सुथरा होता है, तो उसी प्रकार शरीर के अन्धा होने पर वह भी अन्धा हो जायगा, पंगु होने पर पंगु बन जायगा, शरीर के विकलांग होने पर वह भी विकलांग हो जायगा, और शरीर के नष्ट होने पर वह आत्मा भी नष्ट हो जायेगा! ऐसे ज्ञान में मैं कोई उपादेयता नहीं देखता।'

इस प्रकार सोचकर इन्द्र प्रजापति के पास वापस लौट आये। उन्हें पुनः पुनः तीन बार इस तरह वापस लौटना पड़ा। तब कहीं प्रजापति ने सत्य का उपदेश देते हुए इन्द्र से कहा, 'यह शरीर मरणधर्मा है, हरदम मृत्यु के पाश में जकड़ा है, पर उसके भीतर अमरणधर्मा अविनाशी आत्मा निवास करता है। जब तक हम इस आत्मा को देह से अभिन्न देखते हैं, वह प्रिय और अप्रिय का भोग करता है। जब तक देह से आत्मा का सम्बन्ध बना रहता है, तब तक प्रिय और अप्रिय से मुक्ति नहीं मिलती। इस सम्बन्ध के नष्ट होते ही प्रिय और अप्रिय का भी नाश हो जाता है। जब मनुष्य आत्मा को इन्द्रियों और मन से अलग समझते हुए देहबोध के ऊपर उठ जाता है और इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, तब वह उल्लसित होता है और मुक्त हो जाता है।'

देवतागण आत्मा के इस यथार्थ स्वरूप पर ध्यान करते हैं और इस तरह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार, मर्त्य मानवों में जो भी इस आत्मा को जानता है, उस पर ध्यान करता है और उसे देख लेता है, उसे भी सम्पूर्ण लोक प्राप्त होते हैं और उसकी समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं।

एक दूसरे उपनिषद्—मुण्डक—में एक सुन्दर चित्रण उपस्थित किया गया है:—'साथ साथ रहनेवाले दो सुन्दर पंखवाले पक्षियों की तरह जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष की शाखाओं का आश्रय करके रहते हैं। इनमें पहला पक्षी वृक्ष के मीठे और कड़ुवे फलों का भोग करता है, जबकि दूसरा दोनों को ही न चाहते हुए केवल देखता रहता है। अपने अहंभाव के कारण परमात्मा के साथ अपने तादात्म्य को भूलकर, जीवात्मा मोहित होकर शोक करता है।' यहाँ हम देखते हैं कि जीव संसार-वृक्ष के मधुर-तिक्त फलों का आस्वादन करने के कारण शोकमग्न है। पर जिस समय वह सबके उपास्य परमेश्वर को अपने यथार्थ आत्मा के रूप में अनुभव करता है और उसकी महिमा को देखता है, तब शोकरहित हो जाता है।

उपनिषदों में और भी विश्लेषण किया गया है। ब्रह्म से अभिन्न यह आत्मा पाँच कोशों द्वारा ढका है। पहला कोश यह स्थूल शरीर है, जो अन्न से बना होने के कारण अन्नमय कोश कहलाता है। इसके बाद है

प्राणमय कोश, जो पहले की अपेक्षा सूक्ष्म है और हमें साँस लेने और जीने की शक्ति देता है। इसके बाद है मनोमय कोश, जो बाहर के संसार से संवेदनाएँ ग्रहण करता है। इसके पश्चात् आता है विज्ञानमय कोश, जिसके द्वारा विवेक और निर्णय होता है। अन्त में है आनन्दमय' कोश, जो अहंकार या कारण शरीर से सम्बन्धित है और आत्मा के सबसे समीप है। ये पाँच कोश आत्मा को आवरित करके रखते हैं। हम चेतना की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में इनमें से एक या अधिक या सभी कोशों से एकरूप होकर रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम जागरण की अवस्था में होते हैं तो सभी कोशों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। जब हम स्वप्न देखते होते हैं, तो इनमें से कुछ कोशों के साथ हमारी एकरूपता होती है। जब हम गाढ़ी नींद में रहते हैं तब हम आनन्दमय कोश से एकरूप होकर रहते हैं। यहाँ पर जिन्हें यथार्थ जानकारी नहीं है वे भूल कर बैठते हैं। एक लेखक ने लिखा कि हिन्दू जिसे 'समाधि' कहते हैं वह केवल सुषुप्ति ही है। परन्तु, वास्तव में, यह आनन्दमय कोश आत्मा के सबसे समीप होते हुए भी, अज्ञान का ही कोश है और इसलिए भ्रम का कारण है। आत्मा तो इसके परे है।

अतः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। पर यदि तुमने उस परम

सत्य को देख लिया है तो जब तुम उस अवस्था से लौटते हो, तुम्हारा दृष्टिकोण बदल जाता है। कारण यह है कि एक बार समाधि के प्राप्त हो जाने पर तुम्हें मानो आत्मा की आँख मिल जाती है और तुम्हारी दृष्टि सदैव के लिए बदल जाती है। तब केवल समाधि की दशा में ही नहीं बल्कि सभी अवस्थाओं में तुम्हें ईश्वर के दर्शन होते हैं। मैंने अपने गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी को स्वयं इस स्थिति में देखा है। वे हर समय अपने ही भीतर निमग्न रहा करते थे, पर बाहर से हम लोगों को उपदेश देते रहते या हमसे वार्तालाप करते रहते। एक समय मैं अपने एक गुरुभाई से बहस कर रहा था। मैंने कहा कि केवल समाधि की दशा में ही ईश्वर को देखा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण और उनके कुछ शिष्यों की दिव्यानुभूतियों को मैंने यह कहकर समझाने की कोशिश की कि वह सब भावमुख की अवस्था में हुई थीं। मेरे गुरुदेव अपने कमरे में थे। उन्होंने वहीं से मेरी यह बात सुनी। वे कमरे से बाहर निकल आये और दरवाजे पर खड़े होकर कहा, 'तो तुम सर्वज्ञ हो गये हो!' इस पर मैंने उनसे पूछा, 'महाराज! क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इन्हीं चर्म-चक्षुओं से ईश्वर के दर्शन होते हैं और उनसे बातचीत होती है?' तब वे अंग्रेजी में बोले, 'Show me the line of demarcation where matter ends and spirit begins.' (वह सीमा-रेखा तो बताओ जहाँ जड़ का अन्त होता है और चैतन्य का प्रारम्भ।)

जब तक हमें ज्ञान के नेत्र नहीं मिले हैं, जब तक हम अज्ञान की दशा में हैं, तब तक भले ही हम चैतन्य और ईश्वर आदि की बातें करें, पर हम केवल जड़पदार्थ को ही देखते हैं। जब हमारी आँखें बदलती हैं, तब दिव्य दृष्टि खुलती है; तब हमें जड़ पदार्थ नहीं दिखायी देता; तब तो केवल चैतन्य, केवल ईश्वर ही रह जाता है।

पर इस अनुभूति को प्राप्त करने के लिए हमें साधना करनी पड़ती है। श्रीरामकृष्ण एक दृष्टान्त देते हुए कहते थे कि काठ में आग तो है, पर यदि यह कहते रहो कि 'इसमें आग है, इसमें आग है' तो उससे आग बाहर नहीं निकल आयेगी। इसके लिए तुम्हें काठ को जलाना होगा। तभी तुम रसोई पका सकोगे और अपनी भूख को शान्त कर सकोगे। शंकराचार्य ने एक स्थान पर कहा है--गड़ा हुआ खजाना केवल यह कहने से कि "निकल आओ," निकलकर बाहर नहीं आ जाता! तुम्हें यथोचित निर्देशों का पालन करना पड़ता है, खोदना पड़ता है, मिट्टी-पत्थर को वहाँ से हटाना पड़ता है, तब कहीं खजाना तुम्हारे हाथ लगता है। इसी प्रकार, आत्मा का शुद्ध तत्त्व भी माया और उसके परिणामों के नीचे दबा पड़ा है। उसको पाने के लिए ब्रह्मज्ञ के निर्देशानुसार ध्यान, चिन्तन और साधनाओं का अभ्यास करना पड़ेगा। उसे सूक्ष्म तर्क-युक्ति आदि से नहीं पाया जा सकता।

अतएव ध्यान और चिन्तन ही प्रमुख साधना है। तुम्हें अपने भीतर जाना सीखना होगा। इन्द्रियाँ

बहिर्मुखी हैं और मन चंचल है। इन्द्रियों को नियंत्रण में लाना होगा और मन को भीतर की ओर मोड़ना होगा। आकाश की ओर ताककर ईश्वर को नहीं पाया जा सकता; सबसे पहले ईश्वर को अपने भीतर पाना होगा, तभी उसे सर्वत्र देख सकोगे। मैं बहुधा अपने गुरुदेव से प्राप्त उपदेश को दुहराया करता हूँ, 'जो उसे यहाँ (अपने हृदय की ओर संकेत करके) पाता है, वह सर्वत्र ही उसे पाता है; और जो उसे यहाँ नहीं पाता, वह कहीं भी उसे नहीं पाता।'

हम हर समय, हर क्षण ईश्वर में ही जी रहे हैं, क्योंकि जीव आखिर क्या है? वह एक चैतन्य-सत्ता है। और वह चैतन्य-सत्ता किसकी है? आत्मा की, जो चिद्घन ब्रह्म के साथ एकरूप है। हम उस चैतन्य के ही कारण शुभ, अशुभ या जो कुछ भी करने में समर्थ होते हैं। यदि वह चैतन्य न हो तो हम कुछ भी नहीं कर सकते। हम इस चैतन्य के प्रति सजग कैसे होते हैं? श्रीरामकृष्ण के निम्नोक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है:-- पुलिस का आदमी अपनी चोर-लालटेन से अँधेरे में सब का मुँह देखता है, पर उसे कोई नहीं देख सकता। उसे देख सकने के लिए हमें उससे निवेदन करना पड़ता है--'भाई पुलिसमैन, जरा यह लालटेन अपने चेहरे की ओर तो करो।' इसी प्रकार, उस चैतन्य का आलोक जब मन में प्रतिबिम्बित होता है, तब हम संसार की वस्तुओं और पदार्थों का अनुभव करते हैं। हमें प्रार्थना

करनी पड़ती है, 'अहो शुद्ध मन! अन्तर्मुखी होओ; चंचल मत बनो।'

जब तुम अन्तर्मुखी होते हो तब क्या होता है? ईश्वर का चिन्तन और मनन कैसे होता है? ईश्वर पर ध्यान कैसे होता है? तुम्हें अपने मन को किसी रूप पर केन्द्रित करना पड़ता है। सन्त-महापुरुषों और भगवान् का अनुभव करनेवाले भक्तों ने हमें इस प्रकार का उपदेश दिया है––'प्रकाश को ईश्वर का प्रतीक माना जा सकता है। या ओंकार-ध्वनि को ईश्वर का प्रतीक माना जा सकता है। अवतार या सन्त-महापुरुष को भी ईश्वर का प्रतीक माना जा सकता है।' उपनिषदों में हम पढ़ते हैं–– 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'–– ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। कृष्ण ब्रह्म हैं, रामकृष्ण ब्रह्म हैं। जिसने भी ब्रह्म का अनुभव किया है वही ब्रह्म हो जाता है। और यदि तुम ऐसे किसी ब्रह्मवेत्ता के भक्त हो तो तुम ब्रह्म की ही उपासना कर रहे हो। मुण्डक उपनिषद् (३।२।१) कहता है––

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

––'वह (आत्मवेत्ता) इस परम आश्रयरूप ब्रह्म को जान लेता है जो शुद्धरूप से भासमान हो रहा है तथा जिसमें यह सारा विश्व आधारित है। ऐसे (ब्रह्मज्ञ) पुरुष की जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं वे जन्म और मृत्यु की सीमा को पार कर जाते हैं।'

सन्त-महापुरुष या अवतार एक साफ दर्पण के समान है जिस पर आत्मा प्रतिबिम्बित है। जब एक ब्रह्मवेत्ता कहता है कि "मैं ही जीवन हूँ, मैं ही मार्ग हूँ, मैं ही सत्य हूँ और मैं ही धाम हूँ, मेरे शरणागत होओ", तब 'मैं' या 'मेरे' से उसका तात्पर्य कोई व्यक्तिविशेष नहीं है, बल्कि उसका आशय ब्रह्म ही है। एक समय श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी तुरीयानन्दजी ने हमसे कहा था, "जब स्वामी विवेकानन्द 'मैं' शब्द का उपयोग करते थे तब वे विश्वात्मा के साथ युक्त होकर ही करते थे।"

अन्त में, उपनिषदों में ब्रह्मज्ञ की अवस्था का जो वर्णन आया है, उसे उद्धृत करते हुए अपने वक्तव्य का उपसंहार करूँगा--

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्
एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

--'वह (परमात्मा) सबके भीतर प्रकाशित होनेवाला प्राण है। विद्वान् इसे जानकर विनम्र हो जाता है और दूसरों को अपनी वाणी से नहीं दबाता। वह आत्मा में ही क्रीड़ा करता है और आत्मा में ही रमण करता हुआ, सबमें उस परमेश्वर की ही सेवा करता है। ऐसे लक्षणों-वाला ब्रह्मनिष्ठ समस्त ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है।'

●

गीता प्रवचन-२

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में ९ जुलाई १९६७ को प्रदत्त व्याख्यान।)

पिछली चर्चा में हमने कहा था कि वेद किस प्रकार मानव-मन के विकास की गाथा प्रस्तुत करते हैं। हमने यह भी देखा था कि कैसे वेदों को दो भागों में विभाजित कर दिया गया और उन दोनों भागों में--कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में--विवाद प्रारम्भ हो गया। कर्मकाण्ड पूर्वमीमांसा के नाम से भी परिचित हुआ। यज्ञ और क्रिया-अनुष्ठानादि ही कर्मकाण्ड के प्राण थे। ज्ञानकाण्ड को उत्तरमीमांसा के नाम से पुकारा गया। उसमें विचार की प्रधानता थी और इस विश्व के अन्तराल में निहित सत्य को जानने का आग्रह था। जहाँ कर्मकाण्ड यज्ञों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर स्वर्ग-प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानता था, वहाँ ज्ञान-काण्ड स्वर्ग को मर्त्यलोक की ही एक आवृत्ति समझकर, चिन्तन और मनन के द्वारा जीवन के आधारभूत सत्यों को पकड़ने के लिए आकुल था। अतः स्वाभाविक ही कर्मकाण्ड के अनुयायियों ने इस संसार को सत्य समझकर इसी को पकड़ने की कोशिश की, जबकि ज्ञानकाण्ड के अनुयायियों ने संसार को प्रपंच और बन्धनस्वरूप माना। उनका कहना था कि स्वर्ग आदि का आकर्षण

जीवन के वास्तविक सत्य को आँखों से ओझल कर देता है। यह एक वैज्ञानिक प्रवृत्ति थी जो भारत की वसुन्धरा पर अंकुरित हो रही थी।

हम कह चुके हैं कि ज्ञानकाण्ड के अनुयायी चिन्तक किस्म के व्यक्ति थे। उन्होंने सत्य के अनुसन्धान के लिए नयी नयी प्रणालियाँ खोजीं और एक दिन उन्होंने सत्य को जान लिया। उन्होंने घोषणा की कि अज्ञान ही समस्त दुःख का कारण है। अज्ञान मनुष्य को संसार और उसके भोगों से बाँध देता है। स्वर्ग भी प्रकारान्तर से संसार का भोग ही है। अतः इस बन्धन से मुक्ति का उपाय उन्होंने ज्ञान में देखा।

ज्ञान का तात्पर्य यह है कि जो निहित है उसकी अभिव्यक्ति हो जाय। ज्ञान का तात्पर्य यह नहीं कि जो नहीं है उसे जानने का प्रयत्न किया जाय। जो है उसी को जानना ज्ञान का प्रमुख कार्य है। जब तक हम किसी नियम को नहीं जानते होते, तब तक नियम हमें चलाता है और जब हम नियम को जान लेते हैं तो हम स्वयं नियम पर हावी हो जाते हैं। ज्ञान का यही सौन्दर्य है। जब तक हम मशीन को नहीं जानते होते, तब तक मशीन हमें चलाती है, पर जब हम मशीन के कल-पुर्जों को जान लेते हैं, तब हमीं मशीन को चलाने लगते हैं। ज्ञान अपने आपको दो धरातलों पर व्यक्त करता है-- एक है बाह्य और दूसरा, आन्तर। बाह्य धरातल पर ज्ञान के प्राकट्य को हम विज्ञान या साइन्स कहते हैं

और आन्तर धरातल पर ज्ञान की अभिव्यक्ति को आध्यात्मिकता, या साधारणतः, धर्म के नाम से पुकारते हैं।

ज्ञान हमें बन्धन से मुक्ति दिलाता है। जब तक न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त नहीं खोज निकाला था, तब तक गुरुत्वाकर्षण की शक्ति न्यूटन और हम सब पर हावी थी, पर जिस दिन न्यूटन ने प्रकृति की इस छिपी हुई शक्ति को जान लिया, वह उस पर हावी हो गया और उसने ग्रह-नक्षत्रों के बारे में कितने तथ्य खोलकर रख दिये। जब तक हम अन्तरिक्ष-विज्ञान को नहीं जानते थे, तब तक वह हमारे लिए बन्धन था। पर जब से वैज्ञानिकों ने अन्तरिक्ष के नियमों को जान लिया है, तब से वे अन्तरिक्ष में चक्कर मार सकते हैं।

इसी प्रकार, आन्तरिक धरातल पर प्रकट ज्ञान हमारे मनोगत बन्धनों को छिन्न कर देता है और हमारे समक्ष चेतना के नये आयाम प्रस्तुत करता है। आन्तरिक धरातल पर ज्ञान को प्रकट करनेवाली विधि को 'योग' के नाम से पुकारा गया है। पिछली चर्चा में इसका उल्लेख करते हुए हमने कहा था कि शास्त्रीय अर्थ में 'योग' का तात्पर्य है—मन की वृत्तियों का निरोध। हमारा मन बड़ा चंचल है, वह स्थिर नहीं हो पाता। मन में असीम सम्भावनाएँ निहित हैं, पर उसकी चंचलता के कारण ये सम्भावनाएँ व्यक्त नहीं हो पातीं। यदि मन किसी उपाय से अपने ही ऊपर एकाग्र हो जाय,

तो धीरे धीरे वह अपनी परतों का भेदन करने लगता है और इस प्रकार अपनी विभिन्न परतों में छिपे नियमों और सत्यों को प्रकट करने लगता है। एक अवस्था ऐसी भी आती है जब मन अपनी परतों का भेदन करता हुआ अपने आपको लाँघ भी जाता है। यही सत्य को देखने की अवस्था है; इसी को आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्मानुभूति कहते हैं। इस अवस्था को 'अमनी मन' भी कहा गया है।

जैसे, आलोक की सामान्य किरण। इस किरण में भेदने की शक्ति नहीं होती; वह किसी वस्तु में अधिक गहराई तक नहीं जा सकती। पर यदि इसी किरण की स्पन्दन-गति (फ्रीक्वेन्सी) को तीव्र कर दें तो वह 'एक्स-रे' बन जाती है और कई परतों को भेद-कर निकल जाती है। यही बात मन पर भी लागू है। जब तक वह चंचल है, तब तक उसमें अन्तर्भेदन की शक्ति नहीं होती, वह छिछला और अपनी असीम शक्ति से अनभिज्ञ होता है। पर जिस समय मन को उसके अपने ही ऊपर एकाग्र किया जाता है, तो उसमें अपने भीतर उतरने की क्षमता आती है।

वैसे तो मन अपनी रुचि के विषयों में स्वाभाविक ही एकाग्र हो जाता है। पर मन की ऐसी एकाग्रता को योग नहीं कहते। जिस समय मन को अन्य सब विषयों से समेटकर उसके स्वयं के ऊपर केन्द्रित किया जाता है, तब योग की साधना शुरू होती है। चिन्तन,

मनन और ध्यान ही इस साधना के अंग-उपांग हैं।

तो, यह विचारधारा थी उन चिन्तकों की जो ज्ञानकाण्ड के--उत्तरमीमांसा के अनुयायी थे। उनके लिए संसार मिथ्या और स्वप्नवत् था। अतः स्वाभाविक था कि उनका कर्मकाण्ड के अनुयायियों से विरोध होता; क्योंकि कर्मकाण्डी के लिए यह संसार उपभोग्य और वरेण्य था।

महाभारतकालीन समाज में हम इसी विरोध का स्वर सुन पाते हैं। श्रेय और प्रेय की ये दो विचारधाराएँ आपस में जोरों से टकराती हैं। होना तो यह था कि ये दोनों विचारधाराएँ परस्पर समन्वित होकर मनुष्य को ऊपर उठातीं, पर इसके स्थान पर दोनों में लड़ाई ठन जाती है। वेदों के अर्थ में खींचतान की जाती है। तब, 'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्'--जिस भगवान् ने वेदों को निःश्वसित किया और वेदों के आधार पर अखिल जगत् की रचना की, वह इस खींचतान को सहने में असमर्थ होकर मनुष्य के रूप से अवतीर्ण होते हैं। जब वे देखते हैं कि वेदों के अर्थ का अनर्थ हो रहा है, तब आते हैं अनर्थ को दूर करने के लिए और अर्थ को प्रतिष्ठित करने के लिए। आते हैं भगवान्--कृष्ण के रूप में और गीता के माध्यम से वेदों के मर्म का गायन करके चले जाते हैं। अन्य लोग तो वेदों पर भाष्य लिखते हैं, पर भगवान् को भाष्य नहीं लिखना पड़ता, वे तो गायन करते हैं। लेखन

में प्रयास होता है, और गायन में अनुभूति का उच्छ्वास। गीता भगवान् कृष्ण की अनुभूति का उच्छ्वास है। वेदों पर अनेक भाष्य और टीकाएँ मिलती हैं, पर मैं गीता को वेदों की सर्वोत्तम टीका कहता हूँ।

भगवान् कृष्ण युगाचार्य थे। जो युगाचार्य होते हैं, वे युग की मान्यता के अनुरूप एक नया मार्ग, एक नया उपाय जनता के सामने रखते हैं। हमने कहा कि उस समय यज्ञों का बोलबाला था। ऐसा माना जाता था कि यज्ञ करने से मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति होगी और जब तक जीवन-यापन करेंगे तब तक धन-धान्य की किसी प्रकार कमी नहीं होगी। किन्तु यज्ञ एक ऐसा उपाय था जो गरीबों की पहुँच के बाहर था। जो व्यक्ति निर्धन है, जिसके अन्न-वस्त्र का ही कोई ठिकाना नहीं है ऐसा व्यक्ति भला यज्ञ जैसे व्यय-साध्य कार्य को कैसे कर सकता है? तब तो, जो यज्ञ नहीं कर सकता वह देवताओं को प्रसन्न भी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि वह देवताओं की कृपा से वंचित रहेगा। यह बड़ी अनुचित और गलत बात थी। यह बात कृष्ण को गवारा नहीं हुई कि जो धनी है वही यज्ञ कर सकता है और फलस्वरूप स्वर्ग का और भू-सम्पदा का अधिकारी हो सकता है, तथा निर्धन व्यक्ति यज्ञ न कर सकने के कारण भौतिक सुखों और स्वर्ग से वंचित रह जाता है। इसीलिए कृष्ण गीता में एक ऐसा उपाय बताते हैं जो धनी और निर्धन दोनों के लिए समान रूप से उपादेय

है। उस युग में यज्ञ की मान्यता थी, इसलिए कृष्ण ने 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग तो किया पर उन्होंने उस शब्द को एक नया अर्थ प्रदान किया। युगाचार्य ऐसा ही कार्य करते हैं। वे शब्द को तो ग्रहण करते हैं पर उसके अर्थ को युग के अनुरूप बदल देते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि बादशाही अमल का सिक्का अंग्रेजी राज में नहीं चलता। यद्यपि यह छोटी सी बात प्रतीत होती है पर इसमें गूढ़ अर्थ भरा हुआ है। बादशाही अमल का सिक्का होता तो सोने का है और सोने के रूप में उसकी कीमत भी होती है पर वह अंग्रेजी राज में नहीं चलता। अंग्रेजी राज में चलाने के लिए बादशाही अमल के सिक्के को गलाना पड़ता है और उसमें अंग्रेजी राज की मुहर लगानी पड़ती है। यद्यपि सोने में कोई फर्क नहीं होता पर उसके बाहरी रूप में जरूर फर्क होता है। यदि एक युग के सिक्के को बिना उसका बाहरी रूप बदले दूसरे युग में चलाने की कोशिश की जायेगी तो वह 'डिफंक्ट' हो जायगा, खोटा हो जायेगा।

इसी प्रकार जो शाश्वत तत्त्व होते हैं, उनका ऊपरी रूप भी कालप्रवाह में खोटा हो जाता है। तब ऐसे महापुरुष और युगाचार्य आते हैं जो इन तत्त्वों को गलाते हैं और उनके बाहरी रूप को बदलकर युग के अनुरूप उन्हें नया रूप प्रदान करते हैं। कृष्ण ने यही कार्य किया। उन्होंने यज्ञरूपी सिक्के को गलाया और

उसे युगानुरूप नया स्वरूप प्रदान किया। पहले यज्ञ का तात्पर्य आहुतियों और बलियों से लगाया जाता था। यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का बड़ा जोर था। श्रीकृष्ण ने जनता को इस कुरीति से छुटकारा प्रदान किया। उन्होंने यज्ञ का ही विरोध किया। भागवत में कथा आती है कि जब नन्द बाबा इन्द्र की पूजा के लिए यज्ञ का विधान करते हैं, तब कृष्ण इसका विरोध करते हैं। नन्द उन्हें समझाते हैं कि यदि इन्द्र को आहुति नहीं दी जायेगी तो वे कुपित हो जायेंगे। उनके कोप से हमें भयंकर परेशानियाँ सहनी पड़ेंगी। इन्द्र कुपित होकर हमारे धन-जन का नाश भी कर देंगे। परम्परा से इन्द्र को यज्ञ का भाग दिया जाता रहा है और हमारे लिए यही उचित है कि हम इस परम्परा को न तोड़ें। पर कृष्ण परम्परा के विरोध में खड़े होते हैं। वे कहते हैं कि जो इन्द्र दिखाई नहीं देता उसकी भला क्यों पूजा की जाये। इन्द्र की पूजा करने से बेहतर तो गोवर्धन की पूजा करना है। गोवर्धन हमारी आँखों से दीखता तो है; यह पर्वत हमारी गायों को चारा देता है और हमारी भूमि पर वर्षा कराता है। इसलिए हम सब मिलकर इस गोवर्धन की पूजा क्यों न करें, इसी की उपासना क्यों न करें? कृष्ण परम्परा पर कुठाराघात कर गोवर्धन-पूजा का आयोजन करते हैं। भागवत के इस प्रसंग के मूल में यही अर्थ निबद्ध है कि कृष्ण क्रान्तिकारी महापुरुष और युगाचार्य हैं। वे युग के अनुरूप एक नया मार्ग प्रदर्शित करने के लिए आते हैं और

गीता के रूप में अपना अमर उपदेश प्रदान कर जाते हैं।

पिछली बार हमने कहा था कि गीता एक ऐसा रसायन प्रदान करती है जो कर्मों के स्वाभाविक विष को सोख लेता है। हम तो दिन-रात कर्म में जुटे रहते हैं, हमें जीने के लिए खटराग और भागदौड़ करनी पड़ती है। हम भला इस कर्मसंकुल जीवन में उच्चतर तत्त्व का चिन्तन कैसे कर सकते हैं? भगवान् कृष्ण कहते हैं कि इस रसायन के द्वारा यह भागदौड़, यह खटराग, यह तलस्पर्शी व्यस्तता भी मनुष्य को ऊपर उठाने का साधन बन सकती है। मजदूर कुदाल से जमीन खोदता है, किसान खेत में हल चलाता है, अध्यापक शिक्षा देता है, व्यापारी व्यापार करता है, स्त्रियाँ घर में रसोई पकाती हैं और अधिकारी नाना प्रकार के प्रशासनिक कार्य करता है। ये सभी प्रकार के कर्म गीतोक्त रसायन के माध्यम से जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के साधन बन सकते हैं।

ईशावास्य उपनिषद् में इस प्रकार का एक संकेत मात्र दिखाई देता है, जहाँ गुरु शिष्य के समक्ष सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—'ईशावास्यम् इदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।' —'यह सारा संसार भगवान् का बैठकखाना है; यही भाव त्याग का मूल है; इस ज्ञान को जीवन में धारण कर सभी कर्त्तव्य-कर्म करते चले जाओ और किसी के धन की लालच मत करो।'

ईशावास्य उपनिषद् में यह जो सिद्धान्त-बीज दबा हुआ है, उसी का विस्तार गीता में हुआ है। यहाँ हमें यज्ञ का नया रूप दिखायी देता है। श्रीकृष्ण के मतानुसार हमारे शरीर की हर क्रिया, हमारे मन का हर स्पन्दन यज्ञ का रूप धारण कर सकता है, यदि इन क्रियाओं और विचारों के पीछे ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना हो। तभी तो प्रत्येक कार्य को यज्ञ बना लेने का निर्देश देते हुए वे अर्जुन से कहते हैं–

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ (३।९)

----'हे कौन्तेय, यज्ञ के अभिप्राय और भावना के बिना जो भी कर्म किये जाते हैं वे सभी बन्धनकारक होते हैं। इसलिये तू जो भी कर्म करेगा, उसे यज्ञ की भावना से कर और इस प्रकार आसक्तिरहित होकर वर्तन कर।' यज्ञ की भावना से कर्म करने का क्या तात्पर्य है?– भगवत्समर्पित बुद्धि से कर्म करना। तो क्या सभी प्रकार के कर्म यज्ञ बन सकते हैं? क्या दुष्कर्म भी भगवान् को अर्पित करके किया जा सकता है? कृष्ण इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ (४।१६)

--'हे पार्थ ! कर्म क्या है, अकर्म क्या है इस सम्बन्ध में मनीषी जन भी भ्रमित हैं। अतः मैं कर्म का मर्म तुझे समझाता हूँ, जिसे जानकर तू अशुभ

से मुक्त हो जायेगा ।'

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।(४।१७)

—'कर्म को समझो, विकर्म को समझो और अकर्म को भी समझो, क्योंकि कर्म की गति गहन है ।' यानी, कर्म के तीन रूप हैं : कर्म, अकर्म और विकर्म । विकर्म शास्त्रनिन्दित और विपरीत या अशुभ कर्म को कहते हैं । जिस कार्य को समाज ठीक नहीं समझता या जिसे हम ठीक नहीं समझते, उसे विकर्म कहते हैं । अकर्म उसे कहते हैं जिसमें जड़ता, आलस्य और तमोगुण की प्रधानता हो, जहाँ शुभ कर्म का नितान्त अभाव हो और व्यक्ति प्रमादी और निठल्ला हो । कर्म वह है जो शुभ, उचित और करणीय हो । कृष्ण कहते हैं कि विकर्म और अकर्म से बचो तथा कर्त्तव्य और करणीय कर्म करो । ऐसे कर्म न करो जो समाज और राष्ट्र को क्षति पहुँचाते हों, जिनसे स्वयं की हानि होती हो । असल में जो समाज और राष्ट्र को ठगता है, वह सबसे पहले अपने आपको ठगता है । वह इस तथ्य को नहीं जानता और अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारता है । ऐसा व्यक्ति अपने आपकी हिंसा करता है और आत्मघाती होता है । यह एक अटल सत्य है कि जो कार्य समाज और राष्ट्र-विरोधी होते हैं वे सबसे पहले आत्मविरोधी होते हैं । इसलिये श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं :

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। (६।५)

——'मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं अपना उत्थान करे और अपने को गिरने न दे; क्योंकि वह स्वयं अपना मित्र है और शत्रु भी।' वास्तव में मनुष्य ही स्वयं को उठाता है और अपने को गिराता भी है। लोग अपनी असफलता का दोष परिस्थितियों और अपने परिचितों के सिर पर मढ़ दिया करते हैं। पर यह सच नहीं है। असल में हम ही अपने पतन के कारण होते हैं और हम स्वयं खुद को उठाते हैं। जो व्यक्ति अपने आप को उठाता है वह अपने आपका मित्र होता है और जो अपने आप को गिराता है वह अपना शत्रु है। इसलिये भगवान् ऐसे कर्मों को करने का उपदेश देते हैं जो करणीय हैं तथा ऐसे कर्मों का तिरस्कार करने के लिये कहते हैं जिनसे समाज और राष्ट्र का नुकसान होता है। वे अकर्म और विकर्म से बचने की सलाह देते हैं। जो कर्म हमें परिस्थितियों से प्राप्त होते हैं, उन्हें ईश्वर के प्रति समर्पित-बुद्धि से करने से कर्म एक यज्ञ बन जाता है। ऐसे कर्म बन्धनकारक नहीं रह जाते, बल्कि हमें ऊपर उठाते हैं। जब यह अभ्यास सधता है, तब हमारे शरीर की प्रत्येक क्रिया यज्ञमय बन जाती है। पश्यन् शृण्वन् स्पृशन्

जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्। प्रलपन्
विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि ॥ (५।८)

——हमारा देखना, सुनना, स्पर्श करना, गन्ध लेना, खाना, चलना, सोना, साँस लेना, बोलना, छोड़ना और ग्रहण करना, ये सभी यज्ञमय बन जाते हैं। यहाँ तक

कि हमारी पलकों का उठना और गिरना जैसे सामान्य कार्य भी, जिनकी अनुभूति हमें नहीं होती, यज्ञस्वरूप हो जाते हैं। कृष्ण कहते हैं :

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। (५।१०)

—'जो ब्रह्म को आश्रय और आधार मानकर आसक्ति का त्याग करते हुए, कर्तव्य कर्म करता है, वह जल में कमलपत्रवत् पाप से अलिप्त रहता है।' यही गीता की चरमावस्था है, यही ब्रह्मनिष्ठा और स्थितप्रज्ञता की स्थिति है।

मनुष्य संसार में रहकर शान्ति की इच्छा करता है; और संसार तो ऐसी जगह है जहाँ अशान्ति के वात्याचक्र बहा करते हैं, अशान्ति की भँवरें उठा करती हैं। ऐसे दुःखपूर्ण संसार में व्यक्ति ऐसा सुख पाना चाहता है जो उसका पीछा न छोड़े। ऐसी परिस्थिति में गीता आकर हमें रास्ता दिखाती है। वह कहती है कि यह संसार झमेला और झंझट जरूर है। फिर भी अशान्ति के वात्याचक्रों से भरे इस संसार में तुम्हें शान्ति मिल सकती है। पर इसके लिये तुम्हें अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। तुम आज जिस दृष्टि से अपने कर्मों का सम्पादन कर रहे हो, उसमें आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। जब तुम भगवत्-सर्मपित बुद्धि से, ईश्वर के प्रति प्रेम से प्रेरित होकर, अपने कार्य करोगे तो यह संसार झंझट या झमेला नहीं रहेगा, यह आनन्द और सुख की

खान बन जायेगा।

पिता बाजार के रास्ते से घर लौटता है। बाजार में रंग-बिरंगे कपड़ों की दुकानें उसका ध्यान आकृष्ट करती हैं। वह सोचता है कि दुकान में जाकर अपने पुत्र के लिये कोई चीज देखनी चाहिये। वह दुकान में जाता है और अपने पुत्र के लिए एक कपड़ा खरीद लेता है। बच्चे ने पिता से वह खरीदने के लिये नहीं कहा था अपितु पिता स्वयं अपने पुत्र के प्रेम और आकर्षण से खिचकर दुकान में जाता है और उसके लिए कपड़ा खरीद लेता है। सौदे पर अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा खर्च करते हुए पिता को क्लेश नहीं होता, बल्कि उसे आनन्द ही होता है, क्योंकि उसके पीछे स्नेह की प्रेरणा काम कर रही है। यदि बच्चे ने पिता से कहा होता और पिता ने उसे अपना कर्तव्य समझकर पूरा किया होता, तो उसे इतना आनन्द न होता। अगर व्यक्ति कर्तव्य की भावना से कर्मों का सम्पादन करता है तो उसमें भारीपन आ जाता है। गीता के अनुसार 'ड्यूटी फॉर ड्यूटीज सेक' या 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' की भावना उचित नहीं है क्योंकि इसमें एक खरोंच और संघर्षण का बोध होता है। इसमें बलात् कार्य करना पड़ता है और उससे सुख नहीं मिलता। गीता कर्तव्य के लिये कर्तव्य करने के स्थान पर पूजा के भाव से, यज्ञ के भाव से कर्म करने का उपदेश देती है। वह कहती है कि तुम अपना सारा कर्म ईश्वर की प्रसन्नता

प्राप्त करने के लिये करो। जब ईश्वर की संतुष्टि के लिये कर्म किया जाता है तब कर्म बोझ प्रतीत नहीं होता। जीवन की गाड़ी में संघर्षण तब पैदा होता है जब उसके चक्कों में प्रेमरूपी तेल नहीं लगा होता। जब उसमें प्रेमरूपी तेल लग जाता है तो संघर्षण बन्द हो जाता है। यदि ऐसा प्रेमभाव ईश्वर के लिये हो जाये तो हमारा सारा कार्य उनकी पूजा बन जाता है। तब हम कहते हैं कि 'हे प्रभु, मैं तेरी ही प्रसन्नता के लिये यह कर्म कर रहा हूँ। जो कर्म तूने मेरे लिये निर्धारित किया है उसे मैं अपनी सारी कुशलता और शक्ति के साथ करूँगा, पर उसका सारा फलाफल तेरे चरणों में समर्पित है।' यह योगी की भाषा है।

योग क्या है ? 'योगः कर्मसु कौशलम्।' कर्म करने की कुशलता ही योग है। जब हम अपनी समस्त शक्ति और बुद्धि के साथ कार्य करते हैं तो वह योग हो जाता है। यह योग का एक पक्ष है। योग का दूसरा पक्ष है 'समत्वं योग उच्यते'—अर्थात् बुद्धि की समता का नाम योग है। जब 'योगः कर्मसु कौशलम्' और 'समत्वं योग उच्यते' को एक साथ जोड़ा जाता है, तब योग का सम्पूर्ण स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होता है। हमें अपनी सारी कुशलता से और अपनी बुद्धि को सन्तुलित रखकर कार्य करना चाहिए। यह कैसे सम्भव है ? 'ब्रह्मणि आधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः'—ब्रह्म को आश्रय और आधार मानकर अपने कार्यों को सम्पन्न

करने से बुद्धि संतुलित बनी रहती है।

हमारी बुद्धि असंतुलित तब होती है जब कार्य करते समय हमारे मन में फल की चाह होती है। गीता इस तथ्य को जानती है कि मनुष्य कर्मफल की भावना से प्रेरित होकर ही कर्म करता है। पर गीता यह भी कहती है कि कर्म करना तो तुम्हारे वश की बात है, किन्तु कर्म का फल देने वाला एक ऐसा तत्त्व है जो तुम्हारे अधिकार के बाहर है। इसलिये यदि तुम कर्म-फल की चाह करोगे तो तुम्हारे मन में अशान्ति का उदय हो सकता है, क्योंकि सम्भव है, तुमने जिस फल को चाहा था वह न मिले और जिसकी तुमने अपेक्षा नहीं की थी वह प्राप्त हो जाय। तब तो तुम्हारा मन चंचल और विक्षुब्ध हो जायेगा। अतएव, तुम अपनी पूरी कुशलता के साथ कर्म तो करो पर फल को ईश्वर के हाथ सौंप दो। यह कर्म का अटल सिद्धान्त है कि तुम जो भी कर्म करोगे उसका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा। तुम जो भी अच्छा-बुरा कर्म करते हो उसका फल तुम्हें अनिवार्य रूप से प्राप्त होगा। गीता कर्म-फल को अव-श्यम्भावी बताती है और कहती है कि जब तुम्हें अपने कर्मों के फल मिलेंगे ही, तो तुम फल की चिन्ता क्यों करते हो? तुम यह कहकर कि मुझे अपने कर्म का ऐसा ही फल मिलना चाहिए, अदृष्ट पर जोर कैसे डाल सकते हो? इसलिये कर्म तो करो पर फल के लिये ईश्वर पर निर्भरशील हो जाओ। यह गीता की सबसे

बड़ी मनोवैज्ञानिक सीख है।

गीता हमें भुलावे में नहीं रखती। कुछ लोग कहते हैं कि फल पर विचार न करना तो पलायनवाद है, जीवन से भागना है। पर यह पलायनवाद नहीं है। यह एक मनोवैज्ञानिक तर्क है। यह तर्क हमारे पैरों को विपरीत परिस्थितियों में खड़े रहने की शक्ति प्रदान करता है। गीता का कर्म-सिद्धान्त पूर्णरूपेण व्यावहारिक है। कृष्ण यह जो कर्म और उसके फल को ईश्वर को समर्पित कर देने की बात कहते हैं वह एक मनोवैज्ञानिक सुझाव है। उससे कर्म का विष हमें हानि नहीं पहुँचा पाता।

मान लीजिये कि दो व्यक्ति हैं। एक व्यक्ति ईश्वर पर विश्वास करता है और दूसरा व्यक्ति ईश्वर को नहीं मानता। वह कहता है कि मैं स्वयं कर्म करता हूँ और स्वयं कर्म के फल को प्राप्त भी करता हूँ। ईश्वर कर्मफल प्रदान नहीं करता, बल्कि मैं स्वयं कर्मफलदाता हूँ। पहला व्यक्ति सर्वत्र ईश्वर को विद्यमान देखता है। वह कर्म तो करता है पर उसके फल को वह ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है। अब दोनों व्यक्ति कार्यक्षेत्र में पदार्पण करते हैं। मान लीजिए, दोनों अपने कार्य में सफल हो जाते हैं। जो व्यक्ति ईश्वर पर विश्वास नहीं करता वह कहता है कि मैंने अपनी बुद्धि के बल पर इस कार्य को साधा है। इस प्रकार विचार कर वह अधिक अहंकारी बन जाता है। किन्तु दूसरा व्यक्ति

जो ईश्वर में विश्वास रखता है, सफल होने पर कहता है कि 'प्रभु, तुम्हारी शक्ति और कृपा के फलस्वरूप यह सफलता मुझे मिली है।' इस प्रकार वह अधिक विनम्र और विनयी हो जाता है। बाहर से इन दोनों व्यक्तियों में कोई फर्क दिखायी नहीं देता, किन्तु भीतर से देखने पर एक के मन में तो अहंकार की वृद्धि होती है और दूसरे के मन में विनय का संचार होता है।

अब देखें कि जब दोनों किसी काम में असफल हो जाते हैं तो उनमें क्या प्रतिक्रिया होती है? असफल होने पर ईश्वर को न माननेवाला अहंकारी व्यक्ति सारे संसार को अपनी असफलता के लिये दोषी ठहराता है। वह कहता है कि मेरे दोस्तों ने मुझे दगा दिया। असफलता की चोट से वह रोने लगता है। कई लोग असफलता को न सह सकने के कारण पागल हो जाते हैं और अनेक आत्मघात कर लेते हैं। आजकल ऐसी घटनाएँ बहुत दिखाई देती हैं। काम में असफल होने पर लोग जहर खा लेते हैं, रेल की पटरियों पर सो जाते हैं, आग लगा लेते हैं, पानी में डूबकर मर जाया करते हैं। पर जो व्यक्ति ईश्वर पर विश्वास करता है, जो यह मानता है कि कर्म के फलों का प्रदाता भगवान् है, वह जब असफल होता है तो ईश्वर को सम्बोधित करके कहता है कि 'प्रियतम, असफलता का दुःख तो अवश्य है, पर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि तुम्हारे इस विधान के पीछे मेरा कोई मंगल-साधन ही होगा। यद्यपि मुझे अपने कर्म का फल

आज नहीं मिला है पर तुम अवश्य मेरा मंगल करोगे क्योंकि तुम मंगलमय हो। मैं आज अपने अज्ञान के कारण तुम्हारे इस विधान को नहीं समझ पा रहा हूँ, पर मुझे पूरा विश्वास है कि यह असफलता भी मेरे मंगल के लिए ही है।' ऐसा कहकर वह पुनः शक्ति एकत्रित कर आगे के कार्यों में जुट जाता है। जहाँ अहंकारी को एक छोटी सी विफलता चकनाचूर करके रख देती है वहाँ यह दूसरा व्यक्ति भगवान् पर विश्वास रखकर संकटों का सामना करने के लिये तैयार हो जाता है। वह संकटों को भगवान् की कृपा समझकर स्वीकार करता है। इस दृष्टिकोण के आलम्बन से उसका जीवन असंतुलित नहीं हो पाता। यह संतुलन ही योग कहलाता है।

कर्म के फल के विषय में गीता हमें जो सीख देती है वह हमें पलायनवादी नहीं बनाती। वह कहती है कि हमें फलों के प्रति आग्रह नहीं रखना चाहिये, क्योंकि आग्रह का भाव मन को चंचल बना देता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि जब हम बिना कर्मफल की चाह के कर्म कर ही नहीं सकते, तब अनासक्त होकर कर्म करने का, फल की चाह न रखकर कर्म करने का क्या मतलब है ?

एक अच्छा विद्यार्थी है। वह पढ़ते समय अपने मन में सोचता है—पिताजी ने कहा था कि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर वे मुझे विदेश भेज देंगे। वाह, तब

तो बड़ा मजा आयेगा। बहुत सैर-सपाटा करूँगा। वह अपना सबक याद करने के स्थान पर यही सब सोचा करता है। इतना ही नहीं, वह सोचता है-- जब मैं विदेश से उच्च शिक्षा प्राप्त करके वापस लौटूंगा तो मुझे बड़ी नौकरी मिल जायेगी। मेरा एक बँगला होगा, मोटर होगी, नौकर-चाकर होंगे। जब उसे होश आता है तो देखता है कि अब तक तो उसकी कोई पढ़ाई नहीं हुई। वह फिर से पढ़ने की कोशिश करता है पर फल का विचार पुनः उसके कार्य में अवरोध पैदा कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह जितने अच्छे अंक पा सकता था उससे कम पाता है। फल का व्यर्थ चिन्तन उसके समय और शक्ति दोनों का नाश करता है। इसी समय और शक्ति को यदि वह पढ़ाई में लगाता तो इससे कर्म की क्वालिटी में, उसके स्तर में सुधार होता। परिणामस्वरूप फल भी उत्तम होता। अदृष्ट फल की चिन्ता मनुष्य के सामर्थ्य को कम कर देती है। इसलिये गीता कहती है कि फल के चिन्तन में अपने समय और शक्ति का नाश मत करो। फल तो तुम्हें मिलेगा ही। जो समय और शक्ति तुम फल के चिन्तन में लगाते हो उसका उपयोग तुम कर्म करने में करो। गीता का यही तत्त्वज्ञान है। गीता कहती है कि अपना पूरा समय और अपनी सारी शक्ति कर्म में लगा दो। फल का चिन्तन मत करो। जब तुम बेहतर काम करोगे तो तुम्हें कर्म के अटल सिद्धान्त से बेहतर फल मिलेगा ही। इसलिये

प्रभु-समर्पित भाव से अपने दैनन्दिन जीवन के कर्म करते हुए कहो– 'प्रियतम, मेरे सभी कर्म तुम्हारी पूजा बन जायँ। मैं खेत-खलिहान में जाता हूँ, रसोई का काम करता हूँ, दफ्तर और बाजार जाता हूँ – मेरे ये सभी कर्म तेरी ही पूजा हैं।' जब यह भाव दृढ़ होता है तब जीवन में गीता का योग अवतरित होता है।

(क्रमशः)

●

स्वामी सुबोधानन्द

डा. नरेन्द्रदेव वर्मा

वह सन् १८८४ की घटना थी। एक दिन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित विद्यालय में पढ़नेवाले दो विद्यार्थी बिना अपने परिजनों की अनुमति लिये दक्षिणेश्वर के सन्त का दर्शन करने के लिये निकल पड़े। उनमें से कोई भी दक्षिणेश्वर का रास्ता नहीं जानता था। लोगों से पूछते हुए वे दोपहर को दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण देव तब अपने कमरे में ही थे। उन बालकों को देखते ही उन्होंने विस्मय प्रकट करते हुए उनका परिचय पूछा और जब उन्होंने जाना कि वे उन्हीं का दर्शन करने के लिये कलकत्ता से पैदल आये हैं तब बड़ी आत्मीयता से उनसे बातें कीं। युगावतार के इस प्रथम दर्शन के सम्बन्ध में उनमें से एक ने बाद में लिखा था, "ठाकुर ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने बिछौने पर बिठाया। मैंने आनाकानी प्रकट की, कहा कि रास्ते के कितने ही लोगों का स्पर्श मुझे हुआ है इसलिये मैं इन कपड़ों को पहने हुए आपके बिछौने पर नहीं बैठूँगा। पर वे मेरे हाथ पकड़े हुए थे। मेरी बात सुनकर वे बोले, 'अरे, तू यहीं बैठ। कपड़ों से क्या होता है।' इसके बाद वे भाव में लीन हो गये और आप ही आप हँसने लगे। फिर कितनी ही बातें हुईं। ठाकुर ने कहा, 'तू यहीं का है। तू मेरा

है और मैं तेरा हूँ' ।" उस दिन श्रीरामकृष्ण देव ने उस बालक से कहा था, "जब मैं झामापुकुर में था तब श्रीसिद्धेश्वरी मन्दिर और तेरे घर न जाने कितनी बार गया था ! तब तू पैदा भी नहीं हुआ था । मैं यह जानता था कि तू यहाँ आयेगा । जिसको यहाँ आना होता है, उसे माँ यहाँ भेज देती है ।" यह सुनकर उस लड़के के मन में विचार उठा था कि यदि ऐसा ही था तो माता ने उसे पहले ही वहाँ क्यों न भेज दिया ? श्रीरामकृष्ण ने त्योंही कहा था, "अरे, समय के बिना कुछ नहीं होता ।" श्रीरामकृष्ण देव की बातों को सुनकर उस बालक ने उनके प्रति अतीव आत्मीयता का अनुभव किया था और जब वह अपने मित्र के साथ वापस लौटने लगा तब ठाकुर ने उसे शनिवार या मंगलवार को पुनः दक्षिणेश्वर आने के लिये कहा था ।

दक्षिणेश्वर के पुजारी के अहैतुक प्रेमपाश में बँधकर वह लड़का शनिवार के दिन पुनः अपने मित्र के साथ दक्षिणेश्वर पहुँच गया । उस समय ठाकुर अपने कमरे में भक्तों से घिरे बैठे थे । उसे देखते ही वे उठ खड़े हुए और बाहर निकलकर उसे शिवमन्दिर की सीढ़ियों की ओर ले गये । सीढ़ी पर उसे बिठाकर श्रीरामकृष्ण देव ने अपने हाथों से उसकी छाती और मुख का स्पर्श किया और अपनी उँगली से उसकी जिह्वा पर कोई विशेष मंत्र लिखकर उसे ध्यान करने के लिये कहा । जब वह लड़का ध्यान करने लगा, तो उसे विचित्र

अनुभूति हुई। उसे लगा कि उसके मेरुदण्ड के मार्ग से कोई वस्तु सरककर उसके माथे तक पहुँच गयी है और उसका देहभान लुप्त हुआ जा रहा है। फिर उसने देखा कि ठाकुर के स्थान पर अनेक देवी-देवता विद्यमान हैं और उनके मध्य कभी-कभी ठाकुर का ज्योतिर्मय रूप प्रकाशित हो उठता है। थोड़ी ही देर में ये सभी दृश्य असीम में विलीन हो गये और वह आनन्द-पारावार में डूब गया। जब उसकी चेतना लौटी, तो देखा कि श्रीरामकृष्ण उसके शरीर पर हाथ फिरा रहे हैं और स्नेहपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देख रहे हैं।

दूसरी भेंट में ही जिसकी आध्यात्मिकता का स्त्रोत युगावतार श्रीरामकृष्ण देव ने उन्मुक्त कर दिया था उस सौभाग्यशाली लड़के का नाम था सुबोधचन्द्र घोष। यही लड़का कालान्तर में रामकृष्ण संघ में स्वामी सुबोधानन्द के नाम से विख्यात हुआ। सुबोधचन्द्र घोष का जन्म ८ नवम्बर, सन १८६७ की रात्रि को साढ़े दस बजे हुआ था। उनके पिता श्रीकृष्णदास घोष और माता श्रीमती नयनतारा धार्मिक प्रवृत्ति से सम्पन्न थे। कृष्णदास घोष ब्राह्म-समाज में आया-जाया करते थे और कभी-कभी अपने पुत्रों को भी वहाँ ले जाते थे। अपने पुत्रों में अच्छे संस्कार भरने के लिये वे उन्हें महापुरुषों और सन्तों के जीवन-चरित्र और धर्म-ग्रन्थ पढ़ने के लिये प्रेरित करते रहते थे। भक्तिमती नयनतारा भी अपनी सन्तानों को श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों की

कहानियाँ सुनाया करती थीं।

धार्मिक वातावरण में सुबोध की सत्प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं। वे बड़े सरल थे तथा उनका व्यवहार मधुर था। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी इसलिये वे सहज ही अपने गुरुओं के स्नेहभाजन बन गये। जिस समय वे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा संस्थापित विद्यालय में पढ़ रहे थे उन्हीं दिनों उनके पिता ने उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस के बारे में बताया था। सुबोध ने अपने पिता के पास आनेवाली ब्राह्म-समाज की पत्रिकाओं में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में पढ़ा था, और जब उन्हें सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा लिखी हुई 'परमहंस श्रीरामकृष्ण के उपदेश' नामक पुस्तक पढ़ने को मिली, तो दक्षिणेश्वर के के सन्त दर्शन की इच्छा और भी बढ़ गयी। सुबोध ने अपने पिता से अनुरोध किया कि वे उन्हें श्रीरामकृष्ण के पास ले चलें। उनके पिता तुरन्त सहमत हो गये पर अन्यान्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे शीघ्र ही सुबोध को लेकर दक्षिणेश्वर नहीं जा सके। सुबोध अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सके। एक दिन सबेरे वे अपने मित्र और सहपाठी क्षीरोदचन्द्र मित्र के साथ दक्षिणेश्वर के लिये निकल पड़े। जब सुबोध वहाँ पहुँचे तब श्रीरामकृष्ण अपनी आध्यात्मिक सम्पदा का वितरण करने के लिये सुयोग्य पात्रों की प्रतीक्षा कर रहे थे। सुबोध को देखते ही उन्होंने जान लिया कि वे उन्हीं के जन हैं और दूसरी ही भेंट में उन्होंने सुबोध की

आध्यात्मिकता को जगा दिया ।

श्रीरामकृष्ण के अलौकिक स्नेह से आकर्षित होकर सुबोध बार-बार दक्षिणेश्वर आने लगे । श्रीगुरु के पावन साहचर्य में सुबोध का आध्यात्मिक जीवन विकसित होने लगा । श्रीरामकृष्ण सुबोध को स्नेह से 'खोका' कहा करते थे । दोपहर में ठाकुर को पंखा करते-करते सुबोध को अनुभव होता कि उसकी स्वयं की थकान नष्ट हो गयी है । कभी-कभी श्रीरामकृष्ण स्वयं ही पंखा हाथ में ले लेते और सुबोध को हवा करने लगते। खेल ही खेल में उन्होंने सुबोध को आध्यात्मिक प्रगति के लिये जप, ध्यान आदि का निर्देश देना प्रारम्भ कर दिया ।

उन दिनों श्रीरामकृष्ण युगावतार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे । किन्तु सुबोध को पहले इस पर विश्वास नहीं होता था । एक बार ठाकुर ने सुबोध से पूछा, "तू मुझे क्या समझता है ?" सुबोध बोले, "आपको लोग न जाने क्या-क्या समझते हैं, पर मेरा विचार वैसा नहीं है । मैं जब तक स्वयं न जान लूँगा तब तक लोगों के कथन पर विश्वास नहीं करूँगा ।" किन्तु जब उन्हें श्रीरामकृष्ण देव की महत्ता का बोध हुआ तब उनके सारे संशय विलीन हो गये । धीरे धीरे सुबोध श्रीरामकृष्ण देव पर ऐकान्तिक रूप से निर्भर हो गये । उनका दृढ़ विश्वास हो गया कि ठाकुर के समीप रहने मात्र से व्यक्ति को चरम सत्य की प्राप्ति हो सकती है। कालान्तर में उन्होंने अपने भावों को व्यक्त करते हुए लिखा था,

"यदि वे (श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ) स्वयं न पकड़ा दें तो उन्हें कौन पकड़ सकता है--कौन पहचान सकता है ? मेरा योग-क्षेम उन्हीं के हाथों है।...ठाकुर मेरे सब कुछ हैं--मेरा इहकाल भी और मेरा परकाल भी।"

सुबोध बड़े निर्भय और सरल थे। शिशुवत् सरल होने के कारण वे अपने मनोभावों को बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते थे। एक बार श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें जप-ध्यान करने का आदेश दिया। इस पर सुबोध ने कहा, "नहीं महाराज, जप-ध्यान तो मैं नहीं कर सकूँगा। यदि वह सब करना होता तो अन्यत्र भी जा सकता था। फिर आपके पास आने की क्या आवश्यकता थी ?" ठाकुर उनके मन के भावों को जान गये और बोले, "अच्छा, जा, वह सब तुझे कुछ नहीं करना होगा। तू सुबह-शाम कुछ स्मरण-मनन कर लिया करना।"

सुबोध श्रीरामकृष्ण देव को परम आत्मीय समझते थे, अतः अपने मन की बातों को बताने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "तेरे मुहल्ले में ही महेन्द्र मास्टर भी रहता है। वह यहाँ आता है, उसका स्वभाव बड़ा अच्छा है। उसके पास जाया करना और कभी-कभी यहाँ आ जाना।" यह सुनकर सुबोध ने बिना किसी असमंजस के ठाकुर से कहा, "मैं मास्टर महाशय के पास नहीं जाऊँगा। वे भला मुझे क्या सिखायेंगे ? यदि वे सिखानेवाले होते तो स्वयं संसारी नहीं रहते बल्कि संसार का त्याग कर

देते ।" सुबोध की बातों को सुनकर ठाकुर बोल उठे, "अरे राखाल, सुन तो यह खोका बेटा क्या कहता है ? अरे, तो क्या वह तुझे अपनी बनायी बातें बतायेगा ? वह तो तुझे यहाँ की ही बातें बतायेगा ।" श्रीरामकृष्ण देव के आदेश को शिरोधार्य कर सुबोध मास्टर महाशय के घर गये और निःसंकोच रूप से उन्हें सारी बातें कह सुनायीं । 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' के रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त बड़े ही निरभिमानी थे । वे सुबोध की स्पष्टता से प्रभावित हुए और उन्होंने सुबोध को बताया, "मैं तो एक क्षुद्र व्यक्ति हूँ । पर मैं सागर के किनारे रहता हूँ और मैंने कुछ पात्रों में सागर का जल भर रखा है । यदि कोई आता है तो मैं उसे यही प्रदान करता हूँ । इसके अलावा मैं और क्या कह सकता हूँ !" सुबोध मास्टर महाशय की बात सुनकर मुग्ध हो उठे । उनकी भावना परिवर्तित हो गयी और वे बहुधा उनके घर जाकर उनकी बातों को सुना करते ।

एक दिन सन्ध्या के समय श्रीरामकृष्ण देव के कमरे में कीर्तन चल रहा था । भक्तगण हरिनाम की सुधा चखकर विभोर हो रहे थे । अनेक व्यक्तियों को भाव-समाधि हो गयी थी । कोई ईश्वरानुराग में उन्मत्त हो क्रन्दन कर रहा था, तो कोई हँस रहा था, कोई पुतली के समान स्थिर बैठा था, तो कोई भक्तों के चरणों में लोटते हुए उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर लगा रहा था । सुबोध भी उस समय वहाँ उपस्थित

थे। वे ऐसी भावविह्वलता को सदैव शंका की दृष्टि से देखा करते थे। भक्तों के जाने के बाद भी वे ठाकुर से इस सम्बन्ध में पूछने के लिये रुके रहे। उन्हें बैठा देख ठाकुर ने पूछा, "अरे, तू अभी तक यहाँ बैठा हुआ है?" तब सुबोध ने कहा, "महाराज, आज के कीर्तन में ठीक ठीक भावसमाधि किसे हुई—यह बताइये।" कुछ क्षण मौन रहने के बाद ठाकुर ने कहा, "आज लेटो (लाटू महाराज) को ही ठीक ठीक भावसमाधि हुई थी। अन्य लोगों को थोड़ा बहुत हुआ था।"

परवर्ती काल में जब श्रीरामकृष्ण गले की व्याधि से पीड़ित हुए और जलवायु-परिवर्तन की दृष्टि से उन्हें काशीपुर लाया गया, तब सुबोध भी अन्य गुरुभाइयों के साथ उनकी सेवा में जुट गये। एक दिन सुबोध ने ठाकुर से कहा, "आप दक्षिणेश्वर में सील भरे कमरे में रहते थे इसी से आपको गले का रोग हो गया है। आप चाय पीजिये। जब हम लोगों के गले में पीड़ा होती है तब हम चाय पीते हैं, इससे गले की पीड़ा दूर हो जाती है।" ठाकुर तो और भी सरल थे। वे तुरन्त सहमत हो गये और राखाल से बोले, "अरे राखाल! देख, यह कहता है कि चाय पीने से गले की पीड़ा जाती रहेगी।" राखाल ने पूछा, "क्या आप चाय को सह सकेंगे? वह तो गरम चीज है।" यह सुनकर ठाकुर ने सुबोध को समझाते हुए कहा, "नहीं रे, मैं चाय सह नहीं सकूँगा।"

सुबोध में वैराग्य की भावना जन्मजात थी। वे जब

श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में नहीं आये थे, तभी एक दिन उनके घर में उनके विवाह की बातचीत चली थी। उन्होंने अपने पिता को बता दिया था कि वे विवाह नहीं करना चाहते हैं। पर उनके पिता ने उन्हें समझाते हुए कहा था, "विवाह क्यों नहीं करोगे? अच्छी तरह से पढ़ो-लिखो। तुम्हारा विवाह खूब बड़े घर में किया जायेगा।" शायद पिता ने यह बात इसलिए कही थी कि लड़का पढ़ाई में जी लगाये। पर बात उल्टी हो गयी। सुबोध ने सोचा कि मन लगाकर पढ़ने से यदि मुझे अच्छे अंक मिल गये और मैं उत्तीर्ण हो गया तब मेरा विवाह हो जायेगा। इसलिये उन्होंने पढ़ना-लिखना ही बन्द कर दिया और अपने घर के समीप स्थित श्रीसिद्धेश्वरी मन्दिर में जाकर प्रार्थना करने लगे कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण न हों। स्कूल जाने के समय वे दक्षिणेश्वर भाग जाया करते। उन दिनों वे विद्यासागर विद्यालय की दूसरी कक्षा में पढ़ते थे। आखिर जब वे परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्हें विश्वास हो गया कि अब उन्हें संसार के बन्धन में नहीं बँधना होगा।

श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के उपरान्त उनके बाल-भक्त संसार त्यागकर बराहनगर मठ में रहने लगे। सुबोध भी संसार छोड़कर संन्यासी बनना चाहते थे। एक दिन उन्होंने चुपके से गृह त्याग दिया और ठनठनिया की कालीमाता को प्रणाम कर परिव्रजन के लिये निकल पड़े। इस यात्रा का वर्णन करते हुए उन्होंने

लिखा है, "मैं जब घर त्यागकर निकला तब मेरे पास रुपया-पैसा कुछ भी नहीं था। मैं पैदल पश्चिम की ओर बढ़ चला। रास्ते में केवल धर्म-चर्चा ही किया करता। मन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। कहाँ ठहरूँगा, कहाँ खाऊँगा——कुछ भी निश्चित नहीं था। कभी वृक्ष के नीचे, तो कभी नदी के किनारे और कभी खुले मैदान में मैं रात बिता लेता। दोपहर में यदि भिक्षा मिलती तो खा लेता। वर्षा से भीगा कपड़ा शरीर पर ही सूख जाता। मैं कुरता, जूता, छत्ता, आदि का व्यवहार नहीं करता था। अतएव ऐसी अवस्था में मेरे मन में किसी प्रकार का विकार नहीं आ पाता था।"

सुबोध ग्रैण्ड ट्रंक रोड पकड़कर काशी पहुँचे। किन्तु उनके घरवालों ने उन्हें ढूँढ़ निकाला और वे पुनः कलकत्ता ले आये गये। पर सुबोध का मन संसार में नहीं लगता था। अतः वे अधिक दिनों तक घर में नहीं रह सके और बराहनगर मठ में जाकर संन्यासी बन गये। इसी समय उन्हें 'स्वामी सुबोधानन्द' का नाम मिला। पर रामकृष्ण मठ में वे 'खोका महाराज' के नाम से ही परिचित रहे।

कुछ काल बराहनगर मठ में बिताकर स्वामी सुबोधानन्द स्वामी ब्रह्मानन्द जी के साथ तीर्थ-दर्शन और तपस्या के लिये बाहर निकले। वृन्दावन में कुछ समय बिताकर वे केदारनाथ और बदरीनारायण की यात्रा पर निकल पड़े। हिमालय में तपश्चर्या करने के उपरान्त

वे मठ लौट आये। थोड़े ही दिनों बाद वे दक्षिण भारत की यात्रा के लिये निकले। इन यात्राओं में उन्हें विलक्षण अनुभव हुए थे। एक बार उन्होंने भाद्र मास में फल्गु नदी पार करने का विचार किया। नदी में कमर तक ही जल था। एक व्यक्ति को पार करते देख वे भी उसके पीछे नदी में उतर गये। वे तैरना नहीं जानते थे। नदी के बीच में अचानक बाढ़ आ गयी और वे डूबने लगे। उन्होंने अपने पास तैरते हुए आदमी को पता देते हुए कहा कि वह उनके गुरुभाइयों को यह समाचार भेज दे कि वे नदी में डूब गये। फिर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव को प्रणाम किया और कहा, "यह लो ठाकुर, मेरा अन्तिम प्रणाम।" इसके बाद वे डूब गये। जब उनकी चेतना लौटी, उन्होंने देखा कि कोई व्यक्ति उन्हें निरापद स्थान में रखकर चला गया है।

इसी प्रकार वे एक बार हरिद्वार में दो माह तक ज्वरग्रस्त रहे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था और वे कमण्डलु को उठाकर जल भी नहीं पी सकते थे। एक बार वे जल पीने के लिये उठे पर दुर्बलता के कारण भूमि पर गिर पड़े। तब उन्होंने अभिमान से ठाकुर से कहा, "इतना भुगत रहा हूँ पर यहाँ कोई नहीं है जो मेरी देख-भाल करे।" इसके बाद वे सो गये। नींद में उन्हें एक अपूर्व स्वप्न दिखा। उन्होंने देखा कि ठाकुर प्रकट हो गये हैं और उनसे कह रहे हैं, "क्या चाहते हो? संगी-साथी चाहते हो या रुपया-पैसा चाहते हो?"

सुबोधानन्द ने गद्‌गद्-कण्ठ से उत्तर दिया, "मैं कुछ भी नहीं चाहता। शरीर के रहते रोग अवश्य होगा। पर मैं चाहता हूँ कि आपका विस्मरण न हो।" दूसरे ही दिन संयोग से एक साधु वहाँ आ गये और उनकी सेवा करने लगे। एक अन्य साधु ने उनके पथ्य आदि के निमित्त ५०) प्रदान किये। सुबोधानन्द किसी प्रकार की सेवा या सहायता ग्रहण नहीं करना चाहते थे पर वे साधु भी अपना संकल्प खण्डित नहीं करना चाहते थे। इसके बाद जब भी स्वामी सुबोधानन्द शारीरिक यंत्रणा से त्रस्त होते, उन्हें श्रीरामकृष्ण देव का पावन दर्शन प्राप्त होता और वे दैहिक पीड़ाओं को भूल जाते।

जब स्वामी विवेकानन्द अमेरिका से लौटकर अपनी योजना को मूर्त रूप देने के लिये रामकृष्ण मिशन का संगठन कर रहे थे तब स्वामी सुबोधानन्द मठ में ही थे। स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि रामकृष्ण मिशन के संन्यासी गाँव-गाँव, नगर-नगर जायें और युगावतार श्रीरामकृष्ण के सन्देश का प्रचार करें। संन्यासियों को वाग्मिता की शिक्षा देने के लिये उन्होंने प्रति सप्ताह एक गोष्ठी रखना प्रारम्भ किया था। इस गोष्ठी में सभी को बारी बारी से मंच पर उपस्थित होकर समवेत संन्यासियों और श्रोताओं के समक्ष भाषण देना पड़ता था। एक बार स्वामी सुबोधानन्द की बारी आयी। उन्होंने छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश की पर स्वामी विवेकानन्द ने उनकी प्रार्थना पर विचार नहीं किया।

अन्त में लाचार होकर स्वामी सुबोधानन्द काँपते हृदय से लड़खड़ाते हुए मंच की ओर बढ़े और श्रोताओं के अभिमुख हुए। पर उनके बोलने के पूर्व ही पृथ्वी काँपने लगी। गंगा का जल किनारे को तोड़कर चारों और फैलने लगा। खतरे का सायरन बजने लगा। यह सन् १८९७ का प्रचण्ड भूकम्प था। सभा भंग कर दी गयी और सुबोधानन्द जी को छुटकारा मिला। भूकम्प के बाद स्वामी विवेकानन्द ने ठहाका लगाते हुए कहा, "खोका की वक्तृता से तो धरती काँप उठी!" समस्त गुरुभाइयों में हँसी की लहर दौड़ गयी।

स्वामी विवेकानन्द सुबोधानन्द की सरलता से मुग्ध थे तथा उनसे विशेष स्नेह करते थे। सुबोधानन्द को देखते ही वे आनन्दित हो उठते और उनकी गम्भीरता समाप्त हो जाती। जब स्वामीजी अत्यन्त गम्भीर रहते और उनके समीप जाने का किसी को साहस नहीं होता था तब सुबोधानन्द जी को उनके पास भेजा जाता था। अपने निःसंकोच और शिशुवत् व्यवहार से वे स्वामीजी को प्रसन्नचित्त कर दिया करते थे। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर एक बार स्वामी विवेकानन्द ने उनसे वर माँगने के लिये कहा। सुबोधानन्द ने कहा, "मुझे ऐसा वर दीजिये कि मुझे बिना किसी बाधा के प्रतिदिन सुबह की चाय मिलती रहे।" उनकी बात सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और बोले, "ऐसा ही होगा।" सुबोधानन्द जी की चाय से अत्यधिक प्रीति थी और वे उसे सभी रोगों की

रामबाण औषधि समझते थे।

स्वामी सुबोधानन्द नें काफी दूर-दूर तक यात्राएँ की थीं। वे केदारनाथ और बदरीनारायण दो बार हो आये थे। दूसरी बार वहाँ से लौटते समय वे दार्जिलिंग और कामाख्या होते हुए मठ लौटे थे। रामकृष्ण मिशन के ग्यारह ट्रस्टियों में से वे एक थे तथा उनके जिम्मे अनेकानेक कार्य रहा करते थे। कर्म के सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था, "सत्कर्म करते समय कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। अच्छे कार्य में अनेक बाधाएँ आती हैं। स्वयं के पैरों पर खड़े होकर कार्य करना अच्छा है। मन के अनुरूप साथी मिला तो ठीक, अन्यथा अकेले ही काम करना चाहिए। जिसका मन सन्देहपूर्ण है उसके द्वारा अच्छे कार्य होने की आशा नहीं है।" स्वामी सुबोधानन्द बड़े कर्मठ थे। दूसरों की व्याधि देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठता और वे उसके निराकरण के लिये सचेष्ट हो उठते। चिलका झील के भयानक दुर्भिक्ष के समय वे स्वामी शंकरानन्द के साथ वहाँ गये थे और सेवा-कार्य का संचालन किया था।

स्वामी सुबोधानन्द का जीवन आडम्बरशून्य और सहज था। उन्हें देखकर कोई सहसा उनकी उच्च आध्यात्मिकता का अनुमान नहीं लगा पाता था। किन्तु जब उनकी आध्यात्मिकता का उद्रेक उनके वचनों के माध्यम से होता, तब लोग स्वयं को कृतकृत्य समझते

थे। प्रारम्भ में वे भक्त-गणों को दीक्षा देने से बचते रहे। यदि कोई उनके पास दीक्षा प्राप्त करने के लिये पहुँचता तो वे कहते, "मैं क्या जानता हूँ? मैं तो खोका हूँ। तुम लोग राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) या श्रीमाँ से दीक्षा ग्रहण करो। उनका आध्यात्मिक भाव बहुत ऊँचा है।" पर जब वे पूर्वी बंगाल की यात्रा पर निकल रहे थे तब स्वामी शिवानन्द जी ने उनसे कहा था, "उस अंचल के लोग ठाकुर का नाम सुनने के लिये बड़े लालायित हैं। सबको दीक्षा देना। किसी को वंचित न करना।" सुबोधानन्द ने उनकी आज्ञा का पालन किया और वे मुक्त रूप से ठाकुर का नाम सुनाकर वापस लौटे। जब स्वामी शिवानन्द को पता चला कि वहाँ उन्होंने एक अल्पवयस्क बालक को भी गुरुमंत्र प्रदान किया है तब उनसे बोले, "इतना छोटा लड़का जप-ध्यान कैसे करेगा?" सुबोधानन्द ने उत्तर दिया, "आपने आदेश जो दिया था। इसलिये उसे मैंने वंचित नहीं किया।"

प्रारम्भ में स्वामी सुबोधानन्द महिलाओं से बात करने से बचा करते थे और आवश्यक होने पर दूर खड़े होकर उनसे बातें करते। यह देखकर स्वामी शिवानन्द ने उन्हें समझाया, "खोका, ये लड़कियाँ ठाकुर की बातें सुनने के लिये यहाँ आती हैं, इस आशा से कि तुम उन्हें कुछ बताओगे। यदि तुम इसप्रकार उन्हें देखकर मुड़कर चले जाओ तो वे किसके पास जायेंगी? ये सब जगदम्बा

के ही रूप हैं। माँ और कन्या के समान इनसे मिलो और बोलो।" तब से सुबोधानन्द के विचार कुछ उदार हो गये। वे महिलाओं को 'माई' कहकर सम्बोधित करते थे।

स्वामी शिवानन्द सुबोधानन्द को बहुत चाहते थे और उन्हें शिशुवत् मानते थे। सुबोधानन्द भी उनके आदेशों और निर्देशों का पालन करते थे। पर अपने स्वास्थ्य की ओर सुबोधानन्द का ध्यान न था। कठोर परिश्रम से उनका शरीर टूटता जा रहा था और अनेकानेक शारीरिक व्याधियाँ उन्हें अशक्त बना रही थीं। तथापि वे निरन्तर कार्यरत रहा करते थे। एक बार स्वामी शिवानन्द के साथ वे भी रुग्ण हो गये। स्वामी शिवानन्द को देखने डाक्टर आया। उन्होंने डाक्टर से पूछा, "उस छोकरे को देखा? वह कैसा है?" जब उन्होंने देखा कि डाक्टर उनकी बातों को समझ नहीं पाया है, उन्होंने फिर कहा, "वही खोका छोकरा, जो पास के कमरे में रहता है। वह निहायत बच्चा है। वह अपने शरीर का भी ख्याल नहीं रख पाता। उसे देखकर पथ्यादि के सम्बन्ध में बता जाना।" उस समय स्वामी सुबोधानन्द की आयु ६१ वर्ष की थी पर स्वामी शिवानन्द उन्हें बच्चा ही समझते थे।

सन् १९३० के लगभग स्वामी सुबोधानन्द पुनः गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये। जलवायु-परिवर्तन की दृष्टि से उन्हें भुवनेश्वर, ढाका तथा अन्य स्थानों में ले

जाया गया। वहाँ वे शरीर की सुधि भूलकर मुक्त रूप से भक्तों को दीक्षा दान करते और उपदेश देते। पर उनका जीवन समाप्त हो रहा था। अपने देह-त्याग के कुछ दिन पूर्व उन्होंने कहा था, "महापुरुष (स्वामी शिवानन्द) ने कहा है, 'मैं ठाकुर से प्रार्थना करूँगा कि तुम चंगे हो जाओ और बहुत दिनों तक जियो।' किन्तु मेरी अब और जीने की इच्छा नहीं है। उस दिन ब्राह्म-मुहूर्त में मैंने स्वप्न देखा कि मैंने शरीर त्याग दिया है। फिर मैंने राखाल महाराज, बाबूराम महाराज और योगीन महाराज को भी देखा, पर स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) को नहीं देखा। उन लोगों ने कहा—'बैठो, बैठो।' मैंने कहा, 'नहीं, पहले यह बताओ कि स्वामीजी कहाँ हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'वे यहाँ कहाँ मिलेंगे? वे तो बहुत दूर हैं। वे ईश्वर में तन्मय हो गये हैं।' 'वे बहुत दूर हैं तो क्या हुआ, मैं भी उनके पास जाता हूँ।' ऐसा कहकर मैं रवाना हुआ कि इतने में मेरी नींद टूट गयी। वहाँ मैंने आनन्द ही आनन्द देखा। वे सब मानो आनन्द के नगर में वास कर रहे हैं—सब महानन्द में लीन हैं। वहाँ जाकर फिर आने की इच्छा नहीं होती। यहाँ इस पृथ्वी में कितना कष्ट है!" पर सुबोधानन्द को शारीरिक पीड़ा की चिन्ता अधिक समय तक नहीं रह पाती थी। वे कहते थे, "जब मैं उनकी (ठाकुर की) बातों को स्मरण करता हूँ तो सारी पीड़ा भूल जाता हूँ।" इसप्रकार चिर-शिशु स्वामी सुबोधानन्द निरन्तर

ईश्वर-चिन्तन में लगे रहे और २ दिसम्बर सन् १९३२ को इस दुःखपूर्ण पृथ्वी को त्यागकर उस आनन्द-नगर के वासी हो गये जहाँ केवल आनन्द है, जहाँ पृथ्वी की यंत्रणा नहीं पहुँच पाती और जो चिर-मुक्त आत्माओं का क्रीड़ा-स्थल है।

विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास, ईश्वर में विश्वास——यही महानता का रहस्य है। यदि तुम पुराण के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाये हुए सब देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर यदि अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती। अपने आप में विश्वास करो, उस पर स्थिर रहो और शक्तिशाली बनो।

——स्वामी विवेकानन्द

उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है, जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिलकुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभीः'——निर्भयता। संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी चाहिए, तो वह है 'निर्भीकता'। यह सत्य है कि इस ऐहिक जगत् में, अथवा आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी के कारण सारी बुराई तथा पाप होता है। ——स्वामी विवेकानन्द

अमरीकी संवाददाताओं की दृष्टि में

स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी अमिताभ

हर समाज में संवाददाताओं का अवदान असीम है। उन लोगों के समान अत्यावश्यक और नीरव कर्मी दुर्लभ ही हैं। रात को दो बजे विमान-दुर्घटना हुई और उसकी खबर संवाददाताओं ने सुबह छः बजे निकलने वाले अखबार में प्रकाशित कर दी ! सिर्फ तत्परता ही नहीं अपितु उन लोगों में असीम साहस और धैर्य भी रहता है। लड़ाई की ताजा खबर भेजने के लिए वे सैन्य-दल के साथ-साथ चला करते हैं। उन लोगों में विभिन्न प्रकार के मनुष्य होते हैं-- कोई तो कवि होता है और कोई 'एडवेंचरर' (जीवट)। इसलिए एक ही समाचार विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में अमेरिका के संवाददाताओं ने विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वामी विवेकानन्द को देखा था। उन लोगों के द्वारा प्रस्तुत संवादों में केवल तथ्य ही नहीं, बल्कि पर्याप्त मजेदार मन्तव्य भी छिपा रहता था।

अमरीकी संवाददाताओं को सर्वाधिक कठिनाई हुई थी स्वामीजी के नाम से। पहले-पहल उनके विरकानन्द, विवि रानन्द, वाइवे कानन्द, विवेकान्दि, विवि कनाउडा, वेरे कानन्द, यीवेक्सानन्द, विवे किओन्दो–ऐसे बहुत से नाम छपे थे। 'स्वामी' को वे सिओयामि, सो आनि, सामिक, सिवानी इत्यादि लिखते थे। इससे पता चलता

है कि अमरीकी संवाददाता भारतीय संन्यासी के नाम से विशेष परिचित नहीं थे। उन्होंने 'स्वामी विवेकानन्द' शब्द के तीन भाग किये थे—Swami, Vive और Kananda। उन्होंने सोचा कि 'Swami' 'श्री' के समान है, 'Vive' उनका नाम है और 'Kananda' उनका उपनाम है। इसलिए स्वामीजी को लोग 'कानन्द' कहकर पुकारते थे। कुछ लोग उनका नाम 'Mr. Kananda' ही लिखते थे। अन्त-अन्त में ही वहाँ के संवाददाताओं ने उनका नाम ठीक तरह से जाना था।

नाम के बाद उनका परिचय भी पर्याप्त कुतूहलपूर्ण था। वे आये हैं भारतवर्ष से तो जरूर कोई 'राजा' होंगे। कुछ उनका परिचय 'ब्राह्मण' लिखते थे, जैसे—'Swami' Vivekananda, The Brahmin Monk' या 'Swami Vive Kananda, Hindu Monk'। कुछ संवाददाताओं ने उन्हें 'पुरोहित', 'धर्मयाजक' इत्यादि भी कहा। किसी ने उन्हें 'बौद्ध' कहा, तो किसी ने 'ब्राह्म समाज का प्रसिद्ध हिन्दू साधु' (Famous Hindu Monk of the Brahma Samaj)।

स्वामीजी के नाम को लेकर भले ही अमरीकी संवाददाता बड़ी मुश्किल में पड़े थे पर उन्हें देखकर वे लोग एकदम मुग्ध हो गये। सन् १८९३ के अगस्त महीने के प्रथम सप्ताह में स्वामीजी अमेरिका पहुँचे और बोस्टन नगरी के 'ईवनिंग ट्रांसक्रिप्ट' में २३ अगस्त को उनका समाचार छपा। यह है अमरीकी अखबार में

स्वामीजी का प्रथम समाचार :—

"Swami Virckananda of India, a Brahmin Monk who is on his way to the parliament of religions to be held at Chicago in September, is the guest of Miss Kate Sanborn at her 'abandoned farm' in Metcalf, Mass. Last evening he addressed the inmates of The Sherborn Reformatory for Women upon the manners, customs and mode of living in his country." अर्थात् "भारत के ब्राह्मण-संन्यासी स्वामी विरकानन्द जो शिकागो में सितम्बर में आयोजित सर्वधर्मसभा में भाग लेने आये हैं, मेटकाफ, मैसा० स्थित मिस केट सनबर्न के 'एबण्डण्ड फार्म' में अतिथि हैं। गत सन्ध्या 'शेरबर्न रिफार्मेटरी फॉर वीमेन' की अन्तेवासियों के समक्ष उन्होंने अपने देश के रीति-रिवाज और जीवन-प्रणाली के विषय में भाषण दिया।"

२४ अगस्त को 'सालेम ईवनिंग न्यूज' में, २५ अगस्त को 'बोस्टन ईवनिंग ट्रांसक्रिप्ट' में और 'फर्मिगह्म ट्रिब्यून' साप्ताहिक में स्वामीजी का समाचार फिर छपा। तीन दिन बाद, २८ अगस्त को, 'ग्लाउसेस्टर डेली टाइम्स' ने उनकी वक्तृता की बहुत प्रशंसा की। २९ तारीख को 'सालेम ईवनिंग न्यूज' में लगभग ७०० शब्दों में और 'डेली गजट' में ६५० शब्दों में उनका समाचार प्रकाशित किया गया। इससे पता चलता है कि अमरीकी जनता के मन में स्वामीजी ने पहले से ही एक गुरुत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था। 'डेली गज़ट' ने लिखा था

कि स्वामीजी की वक्तृता के समय बहुत भीड़ हो जाती थी। भारत में रामकृष्ण मिशन स्थापित करने के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार इस समाचार-पत्र में निम्नोक्त रूप से प्रकाशित हुए :

"The speaker explained his mission in his country to be to organize monks for industrial purposes, that they might give the people the benefit of this industrial education and thus elevate them and improve their condition."
——अर्थात् "वक्ता ने अपने देश के लिये अपनी भावी योजना की चर्चा की और बताया कि वे औद्योगिक कार्यों के लिये संन्यासियों का संगठन बनाना चाहते हैं जो जनता को औद्योगिक शिक्षा का लाभ प्रदान करें और इसप्रकार उन्हें ऊपर उठा सकें और उनकी दशा में सुधार ला सकें।"

संवाददातागण स्वामीजी के व्यवहार से पहले से ही मुग्ध थे। उनके बारे में 'सालेम ईवनिंग न्यूज' ने लिखा—— "उनका दर्दी हृदय... अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति अत्यन्त उदार है।" एक दूसरे संवाददाता ने लिखा था— "Like all men who are educated in higher Universities of India, Viva Kananda speaks English easily and correctly." अर्थात् "भारत के उच्चतर विश्वविद्यालयों में शिक्षित व्यक्तियों के समान विवा कानन्दा सहज और सही ढंग से अंग्रेजी बोलते हैं।" एक तीसरे ने लिखा—— "Vive Kananda, the

Hindu Monk, addressed the audience in an intelligent and interesting manner." अर्थात् "हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द ने अत्यन्त रोचक और तर्कपूर्ण शैली में श्रोताओं को सम्बोधित किया।" उनका अंग्रेजी भाषा-ज्ञान 'Remarkably Well' (उत्कृष्ट कोटि का) था। 'नार्दम्पटन डेली हेराल्ड' ने स्वामीजी के कण्ठ-स्वर को 'musical voice' (संगीतात्मक स्वर) कहा। 'डेट्रायट फ्री प्रेस' पत्रिका के अनुसार—"It was a beautiful logical garment that he wove, replete with as many bright colors and as attractive and pleasing to contemplate as one of the many-hued fabrics made by hand in his native land and scented with the most seductive fragrance of the orient." —अर्थात्, "उन्होंने अपने भाषण में युक्ति और तर्क का बड़ा सुन्दर ताना-बाना बुना। उनकी शब्द-रचना वैसी ही आकर्षक और मनमोहक थी जैसा कि उनकी जन्मभूमि में हाथ-करघे से बना बहुरंगी वस्त्र होता है जिसमें प्राच्य की सम्मोहक सुगन्धि भरी होती है।"

'अपील-एवलांश' पत्रिका का मत था कि स्वामीजी पाश्चात्य में अन्यतम एवं अपराजेय वक्ता हैं और उनके अक्षय ज्ञान-भाण्डार ने उन्हें "Worldwide reputation as one of the most thougtful scholars of the age" (युग के महानतम मनीषी के रूप में विश्वव्यापी प्रसिद्धि) प्रदान की है। इतना ही नहीं, स्वामीजी को चिन्तन में शिल्पी, विश्वास में धार्मिक और मंच में अभिनेता के

रूप में घोषित किया गया। इसी पत्रिका में आगे कहा गया कि स्वामीजी के विचारों से अमेरिका के श्रेष्ठ ज्ञानीजन सहमत हैं तथा उन्होंने एक दीर्घकाल से 'विद्यमान अभाव' (long-felt want) की पूर्ति की है। एक पत्रिका ने यह भी लिखा कि किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को स्वामीजी को देखने और उनका भाषण सुनने से नहीं चूकना चाहिये क्योंकि वे प्राच्य की मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक संस्कृति के अत्यन्त उज्ज्वल निदर्शन हैं। 'बोस्टन ईवनिंग ट्रांसक्रिप्ट' ने उनके भाषण को आकाश के समान उदार बताया। ऐसे तो स्वामीजी संयत रूप से भाषण देते थे पर जब वे भारत की दुर्दशा के सम्बन्ध में सोचते, तब बहुत उत्तेजित हो उठते थे। प्राच्य देशों के प्रति पाश्चात्य के अत्याचारों की कहानी वे बड़ी निर्भीकता से कहा करते। क्रिश्चियन मिशनरी की आलोचना करते हुए स्वामीजी ने कहा था कि भारत को इस समय धर्म की नहीं बल्कि भोजन और वस्त्र की आवश्यकता है। अतः पश्चिम को भारत में धर्मोपदेश भेजना बन्द कर खाद्य-पदार्थ भेजना चाहिये। इसके बदले में भारत पश्चिम को अपना महान् दर्शन, योग और आध्यात्मिकता प्रदान करेगा। अपने प्रत्येक भाषण में स्वामीजी ने पश्चिम को भारत का महान् रूप दिखाने का प्रयास किया।

स्वामीजी के चेहरे के बारे में अमेरिकन संवाददाताओं ने जो लिखा, वह भी पठनीय है। उन्होंने लिखा कि

स्वामीजी प्रियदर्शन हैं। उनकी देह का वर्ण काँसे का सा है। उनके दाँत मोती के समान उज्ज्वल हैं। वे छः फुट ऊँचे हैं और उनका वजन १८० पौण्ड है। उनकी आकृति बलिष्ठ है और वे इतने जनप्रिय हैं कि जब वे भाषण करने के लिये मंच पर पहुँचते हैं तो उन्हें देखने से ही दर्शक हर्षित हो उठते हैं। उनकी चाल वीरत्व-व्यंजक है और उनके मुख की हजामत अच्छी तरह से बनी हुई रहती है। जब वे हँसते हैं तो उनके सुन्दर ओंठ कुछ अलग हो जाते हैं। स्वामीजी का गैरिक वस्त्र कभी संवाददाताओं को गाढ़े लाल रंग का प्रतीत होता था और कभी गेरुआ लगता था। न्यूयार्क के एक संवाददाता ने लिखा कि स्वामीजी ने नारंगी रंग का कोट पहना है। मेम्फिस में उन्होंने काला पैण्ट भी पहना था तथा अन्यत्र उन्होंने लाल रंग का परिधान धारण किया था। सैगिनान नगर के 'कूरियर-हेरल्ड' के संवाद-दाता ने स्वामीजी की पगड़ी को बड़े कौतूहल के साथ देखा और लिखा कि एक बारीक शाल को घुमा-घुमाकर यह तैयार की गयी है। सालेम के एक संवाददाता ने लिखा था कि स्वामीजी पगड़ी के एक सिरे का उपयोग रूमाल की तरह करते हैं। 'क्रिटिक' पत्रिका के अनुसार स्वामीजी के चेहरे में एक आभिजात्य है और 'इवॅन्स्टन इन्डेक्स' ने लिखा कि उनके व्यक्तित्व में ओजस्विता है। दूसरे अनेक संवाददाताओं ने उनके प्रतिभादीप्त मुख और मार्जित रुचि का उल्लेख किया।

पत्रों में स्वामीजी के सम्बन्ध में जो समाचार प्रकाशित होते थे, वे काफी चित्ताकर्षक होते थे। ये संवाद साधारणतः दो प्रकार के होते थे—उनकी वक्तृता की घोषणा और दूसरे, उनकी वक्तृता की विषय-वस्तु। १४ फरवरी सन् १८९४ को 'डेट्रायट ट्रिब्यून' पत्रिका के पंचम पृष्ठ पर निम्न छोटी सी घोषणा प्रकाशित हुई थी :

Vive Kananda,

Brahmin Monk of India,
in His Costumes of His Order.

Wednesday, Thursday, Saturday evenings at Unitarian Church. Tickets : Single lecture, 50 Cents; Course, Dollar 1. For sale at MacFariane's and Wright & Kay's.

"Orator by Divine Right", "Giant of the Platform", "A Master of English", "Sensation of World's Parliament".

१० मार्च के 'डेट्रायट जर्नल' की घोषणा भी बड़ी कुतूहलपूर्ण थी :

DETROIT OPERA HOUSE
SUNDAY EVE., MARCH 11.

K A N A N D A

Subject :—**"The Christian Missions in India."**

ALL RESERVED SEATS 50 c.–GALLERY 25 c.
Reserved Seats on Sale at Box Office.

ये सब तो हुए छोटे विज्ञापन। इसके अतिरिक्त 'मेम्फिस कार्मशियल' ने स्वामीजी की वक्तृता की घोषणा लगभग ३५० शब्दों में की थी। हर पत्रिका में उनकी वक्तृता की विषय-वस्तु का संवाद बड़े विस्तार से छपता था। 'मिन्नीपौलिस जर्नल' में 'एक प्राच्य दृष्टि' (An Oriental View) शीर्षक से लगभग १५०० शब्दों में, 'अपील-एवलांश' में 'हिन्दू संन्यासी से वार्तालाप' (A Talk with the Hindoo Monk) शीर्षक से २४०० शब्दों में और 'बिदाई भाषण प्रदत्त' (Gave His Farewell Lecture) शीर्षक से १४०० शब्दों में स्वामीजी का समाचार प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार 'भारत से एक संन्यासी', 'चित्ताकर्षक वक्तृता प्रदत्त', 'स्वामी विवेकानन्द यहाँ आये', 'मनुष्य की नियति पर चर्चा', 'सबसे नैतिक देश', 'कानन्द की जय', 'भारत की नारी', 'वह एक देव पुरुष', 'ऋषि की वाणी', 'हिन्दू भ्राता के साथ एक संध्या', इत्यादि और भी अनेक शीर्षकों से उनके समाचार प्रकाशित हुए थे। वे जब एक शहर से दूसरे शहर जाते तब अखबारों में छपता—'कानन्द जा रहे हैं', 'विदाई भाषण प्रदत्त' इत्यादि। स्वामीजी के भाषणों में इतनी भीड़ होती थी कि बहुत से श्रोताओं को बरामदे में ही खड़े होकर उनका भाषण सुनना पड़ता था। हाँ, कुछ ऐसे भी दिन थे जब भीड़ बिलकुल नहीं थी। अमेरिकन संवाददाता स्वामीजी को इतना प्यार करते थे कि वे भाषण में भीड़

कम होने पर बिगड़ जाते थे। ऐसे ही एक दिन भीड़ कम होने पर 'सैगिनान ईवनिंग न्यूज' ने जनसाधारण पर व्यंग्य करते हुए लिखा था—

"What is the matter with the people of Saginan, anyway ? For several days, it has been announced that Kananda, a Hindoo priest, was to deliver a lecture at the academy. He is one of the most distinguished men who has visited America in years ..He takes high rank among the learned men of the age ...He speaks English fluently and is an orator. And yet this distinguished visitor talked to emply seats. Perhaps if Kananda would learn a skirtdance or could sing a tropical song the people would turn out to hear him." अर्थात्, "सैगिनान की जनता को भला क्या हो गया है? कई दिनों से यह घोषणा की जा रही थी कि हिन्दू आचार्य कानन्द अकादमी में भाषण देंगे। वे उन पहुँचे हुए लोगों में से हैं जो सालों बाद अमेरिका आते हैं। इस युग के विद्वानों में उनका स्थान अत्युच्च है। वे बड़ी प्रवाहपूर्ण अंग्रेजी बोलते हैं और एक वाग्मी हैं। फिर भी इस सम्मान्य अभ्यागत को खाली कुर्सियों को सम्बोधित करना पड़ा। यदि कानन्द घाघरा-नाच जानते होते या उत्तेजक गीत गाये होते तो उन्हें सुनने के लिये लोग दौड़ पड़ते।" इससे पता चलता है कि अमरीकी संवाददाताओं के हृदय में स्वामीजी का कितना गहरा स्थान था।

स्वामीजी की वक्तृता सुनने के लिये टिकट का दाम साधारणत: पचास सेंट या एक शिलिंग होता था, लेकिन अनेक बार उन्होंने नि:शुल्क भाषण भी दिये थे। कभी-कभी वे भारत के विभिन्न दातव्य प्रतिष्ठानों, स्कूल और कॉलेज तथा किसी अमरीकी प्रतिष्ठान के लिये भी भाषण देते थे और संग्रहीत धन सम्बन्धित संस्था को भेज दिया करते थे। उनकी वक्तृता का समय प्राय: शाम को चार बजे या सात बजे अथवा रात को आठ बजे था और उनका भाषण आधा घण्टा, एक घण्टा और कभी कभी दो घण्टे भी चलता था। सबेरे भी उन्होंने कई व्याख्यान दिये थे।

स्वामीजी की उम्र 'सिटी टाइम्स' के अनुसार बीस और 'ट्रिब्यून' के अनुसार इकतीस थी। धर्म-महासभा में उन्होंने अमरीकियों को 'बहनो और भाइयो' सम्बोधित करके समस्त पाश्चात्यवासी जनों का हृदय जीत लिया था। डेट्रायट के 'फ्री प्रेस' के संवाददाता ने उनका उल्लेख 'प्राच्यदेशीय भ्राता' कहकर किया था और 'नार्दम्पटन डेली हेरल्ड' ने उन्हें 'चचेरा भाई' (cousin) कहा था। वक्तृता के अतिरिक्त साक्षात्कार के लिये भी संवाददाता स्वामीजी के पास आया करते थे। 'अपील-एवलांश' नामक पत्रिका में उनके एक साक्षात्कार का रोचक वर्णन छपा था जिसका कुछ अंश निम्नलिखित है :

हिन्दू संन्यासी के साथ साक्षात्कार

अब तक कानन्द ने अपने देशवासी और उनके धर्म तथा अमरीकियों एवं ईसाई धर्म के बारे में पर्याप्त

चर्चा की है। उनके वार्तालाप और आचरण में एक शिशुसुलभ सरलता है जो सभी के हृदय को जीत लेती है। मेम्फिस के ला सैने अकादमी में उन्होंने एक बार कहा——"मैं एक संन्यासी हूँ, न कि पुरोहित। अपने देश में मैं एक स्थान से दूसरे स्थान में लोगों को उपदेश देते हुए घूमता हूँ, और अपने भरण-पोषण के लिये उन पर निर्भर हूँ, क्योंकि मुझे पैसे का स्पर्श नहीं करना चाहिए।"

एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा, "मैं बंगाल में पैदा हुआ हूँ। मैंने स्वेच्छा से संन्यास ग्रहण किया है और ब्रह्मचर्य धारण किया है। मेरा जन्म होने पर मेरे पिता ने मेरी जन्मकुण्डली बनवायी थी पर उन्होंने मुझे यह कभी नहीं बताया कि उसमें क्या है। कुछ साल पहले जब मैं अपने घर गया, मेरे पिता का तो पहले ही देहान्त हो चुका था, तब मैंने अपनी माता के पास रखे हुए कुछ कागजों में अपनी जन्मकुण्डली को देखा। उसमें लिखा था कि मुझे परिव्राजक बनकर पृथ्वी में घूमना पड़ेगा।"

वक्ता की आवाज में करुणा का एक ऐसा स्पर्श था कि श्रोतागणों के हृदय में सहानुभूति की लहर दौड़ गयी और समवेदना सूचक ध्वनियाँ उच्चरित होने लगीं। इसके बाद कानन्द कुछ देर चुप रहे।

फिर किसी ने पूछा, "यदि आपका धर्म ऐसा है जैसा कि आप बताते हैं, यदि वही केवल सत्य धर्म है तो फिर आपके देशवासियों की सभ्यता में वर्तमानकालीन

स्थिति से प्रगति क्यों नहीं हुई ? उस धर्म के द्वारा वे संसार के अन्य देशों के समान उन्नत क्यों नहीं हुए ?"

"क्योंकि यह कार्य किसी धर्म का नहीं है," हिन्दू नें गम्भीरता से उत्तर दिया । "मेरे देशवासी संसार में नैतिकता की दृष्टि से सर्वोपरि हैं--या कम से कम, अन्य जातियों के समान तो हैं ही । वे अन्य व्यक्तियों के अधिकारों के बारे में, यहाँ तक कि मूक पशुओं के सम्बन्ध में भी अधिक सचेत रहते हैं । पर वे जड़वादी नहीं हैं । किसी भी धर्म ने किसी देश या जनता के विचारों अथवा प्रेरणाओं को सशक्त नहीं बनाया है । वास्तव में विश्व के इतिहास में किसी भी ऐसी महान् उपलब्धि का उल्लेख नहीं मिलता जिसका विरोध धर्म ने न किया हो । तुम्हारा बहुप्रशंसित ईसाई धर्म भी इसका अपवाद नहीं है । तुम्हारे डार्विन, तुम्हारे मिल, तुम्हारे ह्यूम–ये लोग तुम्हारे मठाधीशों का समर्थन कभी प्राप्त न कर सके । फिर इस विषय में मेरे धर्म की समालोचना क्यों करते हो ?....तुम अमरीकी किसकी पूजा करते हो ? डालर की । तुम लोगों में से कौन मृत्यु को सहज भाव से वरण कर सकेगा ?"

"आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने के कारण आप वर्तमान की आवश्यकताओं को देखने से चूक जाते हैं । आपका मत मनुष्य को जीने में सहायता नहीं करता ।" एक व्यक्ति ने कहा ।

"पर वह उन्हें मरने में सहायता करता है ।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया ।

"हमें वर्तमान का भरोसा है ।"

"तुम्हें किसी का भी भरोसा नहीं है ।"

"आदर्श धर्म का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह व्यक्ति को जीने में सहायता दे पर उसके साथ ही वह उसे मृत्यु के लिये तैयार होने में भी सहायक बने ।"

"बिलकुल ठीक" हिन्दू संन्यासी ने तत्काल उत्तर दिया," और हम इसी की प्राप्ति का प्रयास कर रहे हैं। मेरा विचार है कि हिन्दुओं का आध्यात्मिक विश्वास भौतिकता के मूल्य पर विकसित हुआ है और मैं सोचता हूँ कि पश्चिम में इसका विपरीत घटित हुआ है । मैं सोचता हूँ कि पश्चिम के भौतिकवाद और प्राच्य के अध्यात्मवाद के समन्वय से बहुत कुछ किया जा सकता है । यह भी हो सकता है कि ऐसे प्रयास में हिन्दू विश्वास की मौलिकता को अधिक क्षति पहुँचे ।"

"आप जैसा चाहते हैं वैसा करने में क्या भारत के सामाजिक तंत्र को एकबारगी आमूल रूप से नहीं बदलना होगा ?"

"हाँ, सम्भव है, पर धर्म तब भी अक्षत ही रहेगा ।"

मूर्तिपूजा पर चर्चा चलने पर संन्यासी ने कहा कि जहाँ तक प्रतीक का सम्बन्ध है, मूर्तिपूजा उनके धर्म का एक अंग है ।

"तुम किसकी पूजा करते हो ?" संन्यासी ने पूछा, "ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हारी क्या धारणा है ?"

"स्पिरिट",——एक महिला ने शान्ति से उत्तर दिया।

"यह स्पिरिट क्या है? तुम प्रोटेस्टेन्ट लोग बाइबिल के शब्दों की उपासना करते हो या उसके परे अन्य किसी वस्तु की? हम मूर्ति के माध्यम से ईश्वर की पूजा करते हैं।"

"अर्थात् आप वस्तुगत से आत्मगत की प्राप्ति करते हैं।" उस आगन्तुक के शब्दों को बहुत देर तक सावधानी से सुनने के बाद एक भद्र व्यक्ति ने कहा।

"हाँ, यही बात है।" संन्यासी ने आभारसिक्त स्वर में कहा।

स्वामीजी के विचारों को न समझ पाने के कारण कुछ संवाददाताओं ने तथ्य प्रस्तुत करने में भूल भी की थी। 'सैगिनान ईवनिंग न्यूज' ने १९, २०, २१ और २२ मार्च, १८९४ को चार दिनों तक स्वामीजी का समाचार प्रकाशित किया। १९ और २० मार्च के पत्र में स्वामीजी को बौद्ध और शेष दो दिनों के पत्र में उन्हें हिन्दू बताया गया। 'सैगिनान कूरियर हेरल्ड' ने भी एक ही समाचार में स्वामीजी को पहले हिन्दू और बाद में बौद्ध कहा। 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' ने भी एक बार उन्हें बौद्ध कहा। स्वामीजी की बातों को न समझ पाने के कारण 'दे मोयँ न्यूज' ने २८ नवम्बर १८९३ को, 'अपील-एवलांश' ने २१ जनवरी, १८९४ को तथा 'बोस्टन हेरल्ड' ने कुछ त्रुटिपूर्ण संवाद प्रकाशित किये थे। ब्रुकलिन शहर के

'स्टैण्डर्ड यूनियन' ने 'सहधर्मिणी' को 'Sahatimani' और कर्मकाण्ड को 'Curu Makunda' लिखा था।

श्रीरामकृष्ण देव के मतानुसार चमत्कार आध्यात्मिकता के निदर्शन नहीं हैं। इसलिये स्वामीजी भी चमत्कारों पर कम ध्यान देते थे, किन्तु सामान्य व्यक्ति इन्हें ही आध्यात्मिकता का निदर्शन समझते हैं। अमरीकियों की धारणा थी कि भारत के सन्त अनेक चमत्कार दिखाया करते हैं। १८ फरवरी, १८९४ के 'ईवनिंग न्यूज' में डेट्रायट में स्वामीजी के शुभागमन का संवाद 'Give us Some Miracles' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। उस पत्रिका के संवाददाता ने दावे के साथ लिखा था कि भारत के महात्माओं में अद्भुत शक्ति रहती है इसलिये स्वामीजी को भी आध्यात्मिकता के निदर्शन के लिये कुछ ऐसे चमत्कार दिखाने होंगे।

संवाददाता ने यह भी लिखा कि भारत में दो मिनट में पैर को ४०-४५ फुट लम्बा बना देना, पर्वत को अदृश्य कर देना, उँगली से विद्युत् निकालना इत्यादि अनेक चमत्कार बहुतायत से दिखाये जाते हैं। अतः स्वामीजी को केवल भाषण ही नहीं देना होगा बल्कि चमत्कार भी दिखाना होगा। इस सवाद के दो ही दिन बाद ओ. पी डेलडॉक नामक अमरीकी सज्जन ने उक्त संवाददाता के दावे की सारहीनता प्रदर्शित करते हुए अपना एक पत्र प्रकाशित कराया। १७ फरवरी को 'ईवनिंग न्यूज' में चमत्कार के सम्बन्ध

में स्वामीजी का वक्तव्य प्रकाशित हुआ। स्वामीजी के मतानुसार ये चमत्कार साधारणतः हाथ की सफाई या हिप्नाटिज्म हैं। हिन्दू धर्म चमत्कारों पर आधारित न होकर विशुद्ध सत्य पर प्रतिष्ठित है। अमरीकी संवाददाताओं का एक दूसरा दल भी था। स्वामीजी के प्रति ईर्ष्या रखनेवाले पश्चिमी पादरियों, भारत के ब्राह्म समाज और थियोसॉफिकल सोसायटी के कुछ नेताओं ने उनके विरुद्ध समाचार-पत्रों में बहुत-कुछ लिखा। उन्होंने हिन्दू धर्म, भारतवासी तथा भारतीय समाज की निन्दा करने के साथ साथ स्वामीजी के चरित्र पर भी कलंक लगाने की कोशिश की। पर मजे की बात यह थी कि जब किसी पत्रिका में स्वामीजी के विरुद्ध कोई समाचार प्रकाशित होता, तब उसके साथ साथ किसी दूसरी पत्रिका में किसी सज्जन का प्रतिवाद भी प्रकाशित होता था। भारतीय समाचार-पत्रों, विशेषकर 'इण्डियन नेशन' के सम्पादक एन. घोष, 'मिरर' के नरेन्द्र सेन, 'डेली मिरर' के डॉ. जे. बी. डयूली, 'नेशनल गार्जियन' के शशिभूषण मुखर्जी, 'होप' के बाबू अमृतलाल रॉय प्रभृति लोगों ने स्वामीजी की जो संस्तुति की, उसका अमरीकी संवाददाताओं पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। फलतः शिकागो, न्यूयार्क तथा अन्य स्थानों के पत्रों ने भी स्वामीजी का सम्मान करना प्रारम्भ कर दिया। अमेरीका के विभिन्न समाचार-पत्रों में स्वामी विवेकानन्द के तत्कालीन संवाद किस प्रकार प्रस्तुत हुए

थे, इसका सुदीर्घ काल तक अनुसन्धान करके सैनफ्रांसिसको की मेरी लुइस बर्क ने 'Swami Vivekananda in America : New Discoveries' नामक ग्रन्थ की रचना की है। स्वामीजी के अमेरीका-वास के सम्बन्ध में यह सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है। प्रस्तुत निबन्ध के तथ्य इसी ग्रन्थ से लिये गये हैं।

●

'मनुष्य'––केवल 'मनुष्य' ही हमें चाहिए, फिर हर एक वस्तु हमें प्राप्त हो जायगी। हमें चाहिए केवल दृढ़, तेजस्वी, आत्मविश्वासी तरुण––ठीक-ठीक सच्चे हृदयवाले युवक। यदि सौ भी ऐसे व्यक्ति हमें मिल जायँ, तो संसार आन्दोलित हो उठेगा––उसमें विशाल परिवर्तन हो जायगा।

––स्वामी विवेकानन्द

इच्छाशक्ति ही सबसे अधिक बलवती है। इसके सामने हर वस्तु झुक सकती है, क्योंकि वह ईश्वर और स्वयं ईश्वर से ही आती है; पवित्र और दृढ़ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। क्या तुम इसमें विश्वास करते हो ?

—स्वामी विवेकानन्द

लघुकथा

वृत्रासुर का अन्त

डा. प्रणव कुमार बनर्जी

काल रात्रि थी।...

हिमालय के शिखर पर सहसा अन्धकार का स्पन्दन बढ़ गया। भौतिकवादी असुर-नेता वृत्रासुर के हाथों आर्य-सेनापति इन्द्र के परास्त होते ही भारत के राष्ट्र-जीवन का स्वर्गराज्य पददलित हो गया।

तभी विजयी वृत्रासुर के नगाड़ों की उद्धत ध्वनि हिमालय के शिखर-प्रान्त से आ टकरायी। क्षितिज ने कम्पित होकर कहा, "अब क्या होगा?"

"मैं अनेक कालरात्रियों का साक्षी हूँ।"—हिमालय ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—"आलोक को और अधिक आलोकित करने के लिए अन्धकार की अवतारणा होती है। देवभूमि भारत में आलोक का एक और महाप्रयोग हो रहा है।" और वह चुप हो गया।

क्षितिज ने सहसा देखा—भारत की वसुन्धरा में कतिपय धूमिल प्रकाश-किरणों ने एकत्रित होकर एका-एक एक चकाचौंध करनेवाले ज्योतिपुंज का रूप ले लिया और वह वृत्रासुर के अन्धकार-वृत्तों का स्थान लेने तेजी से बढ़ने लगा। महामुनि दधीचि के तपःपूत आत्मोत्सर्ग ने उसके केन्द्र-बिन्दु की रचना की थी और वृत्रासुर के ही पिता विश्वकर्मा के तकनीकी ज्ञान ने

उसकी परिधि को बाँधा था।

महासुर वृत्र ने सारी शक्तियों के साथ उस ज्योति-पुंज की चुनौती स्वीकार कर ली। इन्द्र ने उस ज्योति-पुंज को परिचालित करते हुए कहा, "वृत्र! यह भारतीय जीवन की शाश्वत जीवनोपलब्धि की संगठित अभिव्यक्ति है। इस वज्र का सामना तुम्हारा भौतिक-वादी आसुरी दम्भ नहीं कर सकेगा।"

और एक भयानक विस्फोट हुआ। कुपित अग्नि-शिखाओं से दिशाएँ सहसा घिर गयीं और वृत्रासुर के समस्त वृत्र उसमें जलकर खाक हो गये।

आकाश ने शंखध्वनि की। आलोक का महाप्रयोग समाप्त हो चुका था। अब हिमालय के शिखर फिर से जगमगा रहे थे।

•

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर

•• मन के हारे हार है

मुगल-सम्राट बाबर तथा राजस्थान के रणबाँकुरे राणा सांगा में कनवाह में संग्राम छिड़ गया था। बाबरी बारूद की आँधी में राजपूत लोटने लगे थे। पराजित होते हुए भी सांगा ने ठान लिया था कि तुर्कों के दाँत खट्टे किये बिना चित्तौड़ की ओर कूच न करूँगा, किन्तु तुर्की बारूद की आँच में तपकर राजपूतों का उजला साहस काला पड़ गया था। राणा ने लाख कोशिश की, किन्तु उनके मुर्दा दिलों में जान फूँकने में स्वयं को असमर्थ-सा पा रहा था। निराशा उसके हृदय में घर कर रही थी। वह सोच नहीं पा रहा था कि क्या करे—क्या वापस लौटे और राजपूती शान पर बट्टा लगने दे? चारण टोडरमल से यह सब देखा न गया। उसके मुख से ओज भरी निम्न वाणी स्फुरित हुई——

सत बार जरासंध आगल, श्रीरंग बिमुहाटी कम दीघ बग,
मेलि घात मारे मधुसूदन, असुर घात नांखे अलख।
पारस हे करसां हथणापुर, हटियोत्रिया पंडतां हाथ,
देख जकर दुरजोधन कीधी, पाछै तक कीधी सजपाथ।
इकरा राम तणी तिय रावण, मंद हरेगो दह कमल,
टीकम सोहिज पथर तरिया, जगनायक उपरा जल।
एक राड भव माह अवत्थी, असरस आणै केम उर,

मालतणा केव ऋण मांगा, सांगा तू सालै असुर ।।

(महाराणा आप उदास क्यों हैं ? कृष्ण सौ बार जरासंध से हारे, पर अन्त में उन्होंने उसे हरा ही दिया; जब दुर्योधन ने द्रौपदी पर हाथ उठाया, अर्जुन पीछे हट गया; पर अन्त में उसने दुर्योधन का क्या हाल किया ? रावण सीता को हर ले गया, पर राम ने समुद्र पार करके उसका क्या हाल किया ? हे सांगा, तुम एक बार की पराजय पर ही इतना दु:ख क्यों करते हो ? तुम तो अब भी दुश्मन की छाती में काँटे की तरह खटक रहे हो ।)

निराशा की कीच में डूबते सांगा ने आवेश में दौड़कर चारण को गले से लगा लिया और उसने उसी समय अपनी सेना को बाबर के विरुद्ध कूच करने का आदेश दिया । किन्तु उसके सरदारों के कलेजे ऐसे बैठ गये थे कि उन पर इसका कोई असर न हुआ; बल्कि युद्ध के भय से रास्ते में ही सांगा को जहर दे दिया गया ।

• स्पष्टवादिता

एक बार गोवा के सन्त कवि सोहिरोबा ग्वालियर के महाराजा महादजी शिंदे के दरबार में पहुँचे । दरबार में गोवा के केटी नामक ग्राम के प्रसिद्ध वीर सेनापति जिवाजी बल्लाल का बड़ा मान था । अपने प्रदेश के सन्त पुरुष के आगमन से जिवाजी को बड़ा हर्ष हुआ । जिवाजी ने महाराजा की कविताएँ उन्हें दिखाते हुए कहा कि यदि वे उन कविताओं की थोड़ी सी भी प्रशंसा

करें, तो मठों की स्थापना के लिए विपुल धन प्राप्त हो सकता है। किन्तु महाराजा की कविताओं का अवलोकन करने के पश्चात् दरबार में सोहिरोबा ने सहज भाव से कह दिया, "हाँ, वैसे तो कविताएँ ठीक हैं, पर 'प्रसाद' गुण से युक्त नहीं हैं।" भरे दरबार में इस प्रकार की स्पष्टोक्ति से महाराजा को बड़ा ही अपमान अनुभव हुआ। क्रोध से उनकी भृकुटियाँ तन गयीं। सारे दरबार में सन्नाटा छा गया, किन्तु सोहिरोबा पूर्ण शान्ति के साथ मन्दस्मित-युक्त मुद्रा में निर्विकार बैठे रहे। महाराजा कुछ बोलें, इसके पूर्व ही उस फकीर बादशाह ने सधुक्कड़ी हिन्दी में निम्न पंक्तियाँ कहीं--

अवधूत नहीं गरज तेरी।
हम बेपर्वा फकीरी ।।
तुम हो राजा मैं हों जोगी।
पृथक् पंथ का न्यारा ।।
सोना-चांदी हमकूं नहिं चाहिए।
अलख भुवन का वासी ।।
दौलत देख दिवानी मेरी . . . ।।

और सोहिरोबा फौरन दरबार से बाहर आ गये।

•• वीतराग

जैन दार्शनिक राजकवि हेमचंद्र सूरि सौराष्ट्र के गाँवों से विचरण करते हुए निकले। सर्वत्र अभाव और दैन्य देखकर उनका हृदय करुणा से भर उठा। एक किसान ने सन और सूत से मिलाकर बुना हुआ एक

मोटा वस्त्र आचार्य के चरणों में रखते हुए कहा, "यह वस्त्र मेरी पत्नी ने आपके लिए बुना है। आप इसे स्वीकार कर हमें कृतार्थ करें।"

कवि हेमचंद्र ने तत्काल राज्य-प्रदत्त वस्त्र उतारकर वह मोटा वस्त्र पहन लिया और सीधे राजधानी पाटण लौट गये। उनके आगमन का समाचार सुनकर महाराज कुमार पाल सामंतों और श्रेष्ठियों के साथ उनके स्वागत को आये, किन्तु राजकवि के वस्त्रों पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें घोर पीड़ा हुई––"यह तो गुर्जर देश का बड़ा ही दुर्भाग्य है, आचार्य! यह मेरे लिए मरण का विषय है!"––राजकुमार बोले।

जैन सन्त ने तीखे स्वर में कहा, "तुम्हारी अधिकांश प्रजा ऐसे ही वस्त्र तो पहना करती है। क्या इससे तुम्हें पीड़ा और मरण का अनुभव नहीं होता? भला मुझ वीतराग के प्रति तुम्हारी ऐसी अनुभूति क्यों? तुम मुझे चीनांशुक पहनाकर प्रजा की सुख-समृद्धि नहीं छीन सकते। मेरा यह ग्राम्य वस्त्र कोटि-कोटि राजवस्त्रों से श्रेष्ठ है।" तब राजकुमार पाल को अपनी भूल महसूस हुई और उन्होंने ग्रामीणों को वस्त्र बाँटे।

●● मितव्ययिता

तमिल कवि वल्लुवर की स्त्री का नाम वासुकी था। वह बड़ी ही पतिव्रता थी। विवाह के दिन वल्लुवर ने खाना परोसते समय उससे कहा, "मेरे खाना खाते समय नित्य एक कटोरे में पानी तथा एक सुई रख

दिया करो।" वासुकी ने जीवनपर्यन्त पति की इस आज्ञा का पालन किया।

जीवन के अन्तिम क्षणों में जब वल्लुवर न उससे पूछा, "तुम्हें कुछ चाहिए? क्या कोई इच्छा है तुम्हारी?"

"हाँ, एक बात पूछनी है। विवाह के दिन आपने भोजन करते समय नित्य एक कटोरा पानी और एक सुई रखने कहा था। मैंने आपसे उसका प्रयोजन पूछे बिना ही वह कार्य प्रतिदिन किया। तथापि आज यह जानने की मेरी इच्छा हो रही है कि आप ये दोनों चीजें क्यों माँगा करते थे? यदि बता दें तो मैं शान्ति से मर सकूँगी।"

वल्लुवर ने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया, "मैंने इसलिए पानी और सुई रखने के लिए कहा था कि खाना परसते समय यदि चावल के दाने गिर पड़ें, तो उन्हें सुई से उठाकर पानी से धोकर खा सकूँ; किन्तु तुम इतनी दक्ष थीं कि तुमने एक दिन भी सुई और पानी का उपयोग करने का मुझे अवसर न दिया!"

•• पासा पलटा

एक बार मुगल बादशाह शाहजहाँ ने दिल्ली में एक विराट मुशायरे का आयोजन किया। उसमें मुस्लिम ही नहीं अपितु हिन्दू कवियों ने भी भाग लिया। सर्व-प्रथम गजलों एवं शेरो-शायरी का कार्यक्रम हुआ; पश्चात् समस्या-पूर्ति का। 'समस्या-पूर्ति' में कोई कवि स्वरचित एक पंक्ति अन्य कवियों को सुनाता है तथा

उनसे उस पंक्ति से संदर्भ जमाते हुए अन्य पंक्तियाँ कहने का आवाहन करता है। एक मुस्लिम कवि ने समस्या-पूर्ति के लिए निम्न पंक्ति कही--

"काफिर हैं वो दुनियां में, जो बंदे नहीं इस्लाम के।" (इस्लाम धर्म को न मानने वाले काफिर हैं।)

स्पष्ट था कि इशारा हिन्दुओं की ओर था और उन्हें ही समस्या-पूर्ति का आवाहन किया गया था। पंक्ति सुनकर जहाँ मुस्लिम कवियों में खुशी की लहर फैल गयी, वहीं हिन्दू पसोपेश में पड़ गये। उनके द्वारा समस्या-पूर्ति करने से इस्लाम धर्म के अनुयायी न होने से वे काफिर साबित होते थे। कुछ हिन्दू कवि मन ही मन बौखला गये, तो कुछ निषेध हेतु मंच का त्याग करने को उद्यत ही थे कि कवि जगन्नाथ पंडित उठ खड़े हुए और ऊँचे स्वर में बोले--

इस 'लाम' के मानिंद हैं, गेसू मेरे घनश्याम के।
काफिर हैं वो दुनियां में, जो बंदे नहीं इस लाम के॥

यह सुनते ही उपस्थित हिन्दू जनसमूह ने बेहद प्रसन्न होकर तालियाँ पीटना आरम्भ किया, क्योंकि पासा पलट गया था और उस मुस्लिम कवि को लेने के देने पड़ गये थे।

उपरोक्त पंक्तियों का भावार्थ निम्न था--

'मेरे कृष्ण के बाल (गेसू) उर्दू अक्षर 'लाम' की तरह तिरछे हैं। इस दुनिया में उनके इन बालों के जो भक्त नहीं, वे काफिर हैं।'

•• जल्दबाजी का फल बुरा

संस्कृत कवि भारवि प्रारम्भ में अत्यन्त निर्धन था। वह बेचारा गौएँ चराकर जैसे-तैसे अपना जीवन-निर्वाह किया करता। एक दिन उसने निम्न श्लोक तैयार किया और उसे एक भोजपत्र पर लिखा——

सहसा विदधीत न क्रियाम्
अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुण-लुब्धा स्वयमेव सम्पदः॥

(कोई भी कार्य जल्दबाजी में नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि अविचार महती विपदा के लिए कारणीभूत होता है। विचारपूर्वक किये गये कार्य के कर्ता पर गुण-लुब्धा लक्ष्मी स्वयं ही प्रसन्न होती है।)

उक्त श्लोक भारवि की पत्नी को बेहद भाया तथा वह उसे लेकर राजा के पास गयी। राजा ने उसे पढ़कर बदले में एक सौ मुहरें दी तथा उस भोजपत्र को उसने अपने शयनकक्ष में लगा दिया।

कुछ दिनों पश्चात् एक सन्ध्या को राजा शिकार को गया, किन्तु अस्वस्थता महसूस होने पर वह मध्यरात्रि को ही वापस लौट आया। उसने ज्योंही अपने शयन-कक्ष में कदम रखा, तो स्तंभित रह गया। बात यह थी कि रानी पलंग पर सोयी हुई थी तथा समीप के उसके पलंग पर कोई अपरिचित व्यक्ति निद्राधीन था। राजा क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने म्यान

से तलवार निकाली और रानी तथा उस अपरिचित पर वार करने ही वाला था कि उसकी दृष्टि भोजपत्र पर पड़ी। उसने श्लोक पढ़ा और तलवार यथास्थान रखकर अपनी पत्नी को जगाया तथा उस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूछ-ताछ की। रानी ने जब उसे बताया कि वह उसका खोया हुआ छोटा भाई है, तो राजा बड़ा ही लज्जित हुआ कि उसके हाथ से नाहक ही दो जीवों की हत्या होने वाली थी। राजा ने दूसरे दिन भारवि को बुलाकर उसे 'छत्र-भारवि' की उपाधि से विभूषित किया तथा विपुल धन-राशि उपहारस्वरूप दी।

•• स्वाभिमान

१८५७ के भीषण संग्राम में ब्रिटिश सेनानी सर ह्यू रोज़ ने जब देखा कि विजयश्री उन्हींको मिलने-वाली है, तो उसने तत्कालीन बादशाह बहादुरशाह 'जफर' को उर्दू में निम्न पंक्तियाँ लिख दीं। सर ह्यू रोज़ ने भारत आने पर हिन्दी और उर्दू का गहरा अध्ययन किया था और वह उनमें काव्य करने में निपुण भी हो गया था, अतः उसे ये पंक्तियाँ लिखने में कोई कठिनाई महसूस न हुई—

दमदमा में दम नहीं, खैर माँगो जान की।
ऐ जफर ठंडी हुई, शमशीर हिंदुस्थान की॥

(ऐ 'जफर', हिंदुस्थानी सैनिकों की तलवारें ठंडी पड़ गयी हैं, उनमें अब बिलकुल साहस न रहा। उन्हें तो अब अपने प्राणों की भिक्षा माँगनी चाहिए।)

बादशाह स्वयं 'जफर' उपनाम से उर्दू में शेरो-शायरी किया करता था। उस स्वाभिमानी ने जवाब में निम्न दो पंक्तियाँ भेज दीं—

गाजिओ में बू रहेगी जब तलक ईमान की।
तब तलक लंदन चलेगी तेग हिंदुस्थान की।।

(ऐ सरदार, हम हिंदुस्थानियों की रग-रग में जब तक धर्म और ईमान कायम है, हमारे हिंदुस्थानी वीर जूझते रहेंगे तथा उनकी तलवारें लंदन के तख्त तक पहुँच जाएँगी।) अतः प्राणों की भिक्षा माँगने अथवा आत्म-समर्पण का प्रश्न ही नहीं उठता।

❁

शुद्ध बनना और दूसरों की भलाई करना ही सब उपासनाओं का सार है। जो गरीबों, निर्बलों और पीड़ितों में शिव को देखता है, वही वास्तव में शिव का उपासक है; पर यदि वह केवल मूर्ति में ही शिव को देखता है, तो यह उसकी उपासना का आरम्भ मात्र है।

——**स्वामी विवेकानन्द**

कमजोरी का इलाज कमजोरी की चिन्ता करना नहीं, पर शक्ति का विचार करना है। मनुष्यों को शक्ति की शिक्षा दो, जो पहिले से ही उनमें है।

—**स्वामी विवेकानन्द**

योग की वैज्ञानिकता-१

डा. अशोक कुमार बोरदिया

कैवल्य, मोक्ष, मुक्ति, निर्विकल्प समाधि आदि को धर्म-शास्त्रों में मानव-जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परम सुख की चाह ही इन सभी के मूल में विद्यमान रहती है। इस विषय में किसी भी मत में विश्वास करने वाले व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती। मनुष्य सर्वथा दुखरहित अखण्ड सुख चाहता है और इस लक्ष्य को पाने के लिए अनादि काल से प्रयत्न करता आ रहा है। प्राचीन भारत में भी इस दिशा में प्रयत्न हुए थे। यहाँ के ऋषि-मुनि, चिन्तक एवं विचारकों ने सहस्रों वर्षों के आन्तरिक एवं बाह्यिक अनुसन्धान के बाद जिन महत्त्वपूर्ण शाश्वत सत्यों का अन्वेषण किया है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं——मर्त्य लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक सुख की कई श्रेणियाँ हैं। उपनिषदों में मानुष-आनन्द को मात्रा में सबसे कम और ब्रह्मा के आनन्द को सबसे अधिक बताया गया है, किन्तु ये सारे सुख ब्रह्मज्ञान अथवा कैवल्य के चरम आनन्द की तुलना में अस्थायी और क्षणिक हैं। बाह्य प्रकृति के नियंत्रण की अपेक्षा अन्त:प्रकृति को नियंत्रित करने में अनन्त आनन्द निहित है। इस आनन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है चित्तवृत्तिनिरोध-स्वरूप योग।

आज आधुनिक भौतिक विज्ञान की चमत्कारिक

सफलताएँ भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रतिप्रादित शाश्वत सिद्धान्त को चुनौती देती हुई प्रतीत होती हैं। विदेशों में भी अधिकाधिक सुख-प्राप्ति के उपायों की खोज में प्रयत्न हुए और हो रहे हैं। आधुनिक मानव, विज्ञान की सहायता से, अनेकों प्रकार की भौतिक सुख-सामग्री का निर्माण एवं संचय कर रहा है। किन्तु भौतिक सुख-वैभव के बीच भी आधुनिक मानव आज सुखी नहीं है। वह विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों और ग्रन्थियों से पीड़ित है, जिनके कारण वह स्वच्छन्द रूप से विषयों का भोग नहीं कर पाता। इसके दो मूल कारण हैं--एक, सामाजिक रूढ़ियाँ और बन्धन, और दूसरा, मानव का स्वयं का मन। पाश्चात्य देशों में, विशेषकर अमेरिका में, विषय-भोगों में बाधा उत्पन्न करने वाले सामाजिक बन्धनों को क्षीण करने का भरसक प्रयत्न करने के बावजूद भी समस्या का समाधान नहीं हो पाया है। मानव-मन अपनी स्वयं की विचित्रता के कारण अखण्ड भौतिक सुख-प्राप्ति में बाधक बन जाता है। आखिर मानव मानव है, पशु नहीं। उसके अन्तःकरण में दैवी और पाशविक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। वह पशुओं के समान केवल इन्द्रिय-भोगों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मानव की इन पाशविक और दैवी प्रवृत्तियों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। जहाँ मनुष्य के भीतर का पशु उसे स्थूल विषय-भोगों की ओर खींचता है, वहाँ उसके अन्दर का देवता

उसे आध्यात्मिक वस्तुओं की ओर प्रेरित करता है। यही द्वन्द्व मानव की अशान्ति, वेदना और मानसिक ग्रन्थियों का कारण है। इस सत्य को पाश्चात्य देशों ने भी समझा और इस द्वन्द्व को समाप्त करने के लिये दो दिशाओं में प्रयत्न हुए। एक, मनोविज्ञान के क्षेत्र में और दूसरा, शरीर-रचना, व्यवहार-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में। पाश्चात्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड एवं उनके अनुयायियों के प्रयास उल्लेखनीय हैं। मानव के निर्विघ्न सुख-प्राप्ति के सम्बन्ध में वे जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, उनका विवेचन आगे किया जायेगा। पहले तो यह जानने का प्रयत्न करें कि क्या भौतिक विज्ञान की पद्धतियों द्वारा और आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की सहायता से मानव में अनादि काल से चल रहे मानसिक द्वन्द्वों को समाप्त किया जा सकता है?

२

मन पर नियंत्रण प्राप्त करने के आधुनिक विज्ञान के प्रयासों को समझने के लिए मानव-मस्तिष्क और स्नायु-तन्त्र (human brain and nervous system) को समझना आवश्यक है, जिसके द्वारा मनुष्य के शरीर की समस्त क्रियाओं का संचालन होता है और जो हमारी समस्त मानसिक प्रक्रियाओं का आधार है।

सम्पूर्ण मानव-स्नायुतंत्र को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—केन्द्रीय स्नायुतंत्र (Central Nervous

System) और स्वचलित स्नायुतंत्र (Autonomic Nervous System)। केन्द्रीय स्नायुतंत्र को पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है–(१) ऊपरी भाग जो मस्तिष्क (Brain) कहलाता है और जो समस्त मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का केन्द्र है; तथा (२) सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Cord) जो संवेदना-वाहक स्नायु-तन्तुओं का समूह है। मस्तिष्क के विभिन्न भागों की क्रियाओं को जानने के लिये प्रायोगिक जानवरों पर एक विशेष पद्धति से प्रयोग किये जाते हैं। मस्तिष्क के अंगविशेष को विद्युत् अथवा रासायनिक पदार्थों द्वारा उत्तेजित करके अथवा उस भाग को नष्ट करके इस बात का अध्ययन किया जाता है कि उसका असर शरीर के अंगों पर क्या होता है। उदाहरण के लिये, मस्तिष्क के Pre-central area नामक अग्रिम भाग को बिजली के करेंट के द्वारा उत्तेजित करने पर यदि जानवर का दाहिना अगला पैर हिलने-डुलने लग जाये, अथवा उसी भाग को नष्ट कर देने से वह पैर लूला पड़ जाये, तो इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि मस्तिष्क का वह भाग–Pre-central area––जानवर के दाहिने अग्रिम पैर की गति का तथा उसकी मांस-पेशियों का संचालन करता है। हमारे विचारों, भावनाओं, इच्छाओं आदि मानसिक क्रियाओं का केन्द्र जानने के लिये भी वैज्ञानिकों ने इसी प्रकार के प्रयोग किये हैं।

मस्तिष्क के उच्चतम भाग सेरिब्रल हेमिस्फियर्स

(Cerebral Hemispheres) या बृहत् मस्तिष्क में स्थित प्री-फ्रॉन्टल एरिया (Pre-frontal area) सब-कॉर्टिकल एरियाज़ (Sub-cortical areas) और लिंबिक सिस्टम (Limbic System) नामक तीन अंग मन की क्रियाओं से सीधे सम्बन्धित हैं। ये तीनों भाग स्नायुतन्तुओं (Neurones) के द्वारा घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में, जानवरों के मस्तिष्क की अपेक्षा, प्री-फ्रॉन्टल एरिया एवं लिंबिक सिस्टम अधिक विकसित पाये जाते हैं, जबकि पशुओं के बृहत् मस्तिष्क के अधिकांश भाग को सब-कॉर्टिकल एरिया घेरे रहता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य में बुद्धि, विवेक और तर्क-शक्ति का जो विकास हुआ है, और जिसका अभाव पशुओं में पाया जाता है, उसके केन्द्र प्री-फ्रॉन्टल एरिया और लिंबिक सिस्टम हैं; तथा जानवरों की जन्मजात, स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Instincts) का संचालन सब-कॉर्टिकल एरिया द्वारा होता है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये वैज्ञानिकों ने अनेक रोचक प्रयोग किये हैं, जिनमें से कुछ संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) प्रायोगिक बन्दर को कई प्रकार से प्रशिक्षित करने के बाद उसके प्री-फ्रॉन्टल एरिया (उच्च मस्तिष्क) को नष्ट कर दिया गया। फलस्वरूप वह अधिक चिड़चिड़ा और क्रोधी हो गया। उसकी स्मरण-शक्ति कम हो गयी और वह पूर्व प्रशिक्षित कार्यों को करने में असमर्थ हो गया। अपने साथी अन्य बन्दरों के साथ उसके

व्यवहार में विचित्र परिवर्तन देखा गया। वह उनके ऊपर इस प्रकार चलने लगा मानो वे निर्जीव हों। उनके भोजन को वह निःसंकोच खाने लगा और उनके द्वारा प्रतिकार किये जाने पर आश्चर्य प्रकट करने लगा। प्रयोग करने वाले वैज्ञानिक के प्रति उसका स्वाभाविक भय भी जाता रहा।

(२) लड़ाकू साँड़ में लिंबिक सिस्टम के एक भाग—कॉडेट न्यूक्लियस (Caudate Nucleus)—को विद्युत् तरंगों द्वारा उत्तेजित करने का साहसिक प्रयोग स्पेन के एक वैज्ञानिक ने किया। दो तारों को एक खूँखार साँड़ के मस्तिष्क में डाल दिया गया। तत्पश्चात् उसे बाह्य प्रलोभनों द्वारा उत्तेजित किया गया। ज्योंही यह क्रुद्ध पशु निहत्थे वैज्ञानिक डालगेडो की ओर लपका, डालगेडो ने जानवर के मस्तिष्क में विद्युत् का संचार कर उसके लिंबिक सिस्टम को उत्तेजित किया। क्षण मात्र में वह भयानक साँड़ पालतू गाय के समान शान्त हो गया।

(३) बिल्ली के सब-कॉर्टिकल एरिया (निम्न मस्तिष्क) को उत्तेजित करने पर उसमें गुर्राना, चिल्लाना, नोंचना, पैर पछाड़ना, काटना, शरीर के बालों का खड़ा हो जाना, आदि क्रोध की शारीरिक प्रक्रियाएँ देखी गयीं।

मस्तिष्क के इन महत्त्वपूर्ण अंगों के गठान, चोट, रक्त की कमी अथवा अन्य किसी प्रकार के रोगों से क्षतिग्रस्त हो जाने पर मनुष्यों में भी इसी प्रकार के

परिवर्तन देखे जाते हैं। कुछ दिनों पूर्व अमेरिका में एक नवयुवक नगर की एक अट्टालिका पर चढ़ गया और उसने बन्दूक से कई लोगों को आहत कर दिया। पुलिस उसे मारकर ही उस पर काबू पा सकी। पोस्ट-मार्टम (मृत शरीर पर की जाने वाली चीर-फाड़) करने पर उसके उच्च मस्तिष्क में एक गठान पायी गयी।

अतः पशु पर प्रयोगों और रोगों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्री-फ्रॉन्टल एरिया (उच्च मस्तिष्क) हमारे विवेक-ज्ञान, विचार-शक्ति, तर्क एवं बुद्धि का केन्द्र है। सब-कॉर्टिकल एरिया (निम्न मस्तिष्क) पर स्नायु-तन्तुओं के माध्यम से नियंत्रण रखना इसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। योजना बनाकर कार्य करने, निर्णय लेने और उसे कार्यान्वित करने की क्षमता इसी पर निर्भर करती है। दूरदर्शिता, इच्छा-शक्ति, कल्पनाशक्ति, भविष्य की चिन्ता, परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ सन्तुलन एवं उनमें सामंजस्य बनाये रखना, आदि क्रियाओं का यह केन्द्र है। नैतिक चेतना, उच्च आकांक्षाओं और आध्यात्मिक रुचियों का भौतिक आधार भी यही है। संक्षेप में, यह हमारी दैवी प्रवृत्ति का केन्द्र है।

निम्न मस्तिष्क हमारी भावनाओं (Emotions), जन्मजात प्रवृत्तियों (Instincts) और हमारे अधिकांश अनैच्छिक सहजात कार्यों (Reflex Actions) का केन्द्र

है। पशुओं में उच्च मस्तिष्क के अल्प विकास के कारण निम्न मस्तिष्क अधिक प्रभावशाली होता है। जिन मनुष्यों का उच्च मस्तिष्क बनावट और क्रिया में (Structurally & Functionally) अधिक शक्तिशाली होता है, वे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होते हैं। अधिकांश मानवों के मानसिक तनावों, ग्रन्थियों और अशान्ति का कारण उच्च मस्तिष्क और निम्न मस्तिष्क के बीच सन्तुलन का न होना ही है।

(३)

इस प्रकार मानसिक क्रियाओं का आधार जान लेने के बाद, वैज्ञानिकों ने मनुष्य की दैवी और पाशविक प्रवृत्तियों के बीच चल रहे द्वन्द्वों को कृत्रिम उपायों से समाप्त करने के कई सराहनीय प्रयोग किये। आधुनिक विज्ञान का यह तर्क है कि यदि उच्च और निम्न मस्तिष्क में से किसी एक को कृत्रिम उपायों--औषधियों अथवा शल्य-चिकित्सा--से अधिक शक्तिशाली बना दिया जाये तो यह द्वन्द्व समाप्त हो सकता है। इसी के आधार पर एक प्रसिद्ध काल्पनिक उपन्यास--डा. जैकिल और मिस्टर हाईड--की रचना हुई है। इस कल्पना को साकार करने के प्रयास में वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसी औषधियों का आविष्कार किया है जो उच्च मस्तिष्क को अधिक क्रियाशील बना सकती हैं। इनके प्रभाव से मानसिक सतर्कता और एकाग्रता में अस्थायी वृद्धि हो जाती है। पर इस प्रकार की औषधियों का प्रयोग केवल आपत्कालीन

स्थितियों में अथवा समयाभाव की अवस्थाओं में ही किया जा सकता है, क्योंकि इन औषधियों के बुरे परिणाम भी होते हैं। स्पष्ट है कि ये औषधियाँ चरित्र में स्थायी परिवर्तन नहीं ला सकतीं।

शराब, भाँग, गाँजा, और एल. एस. डी. नामक आधुनिक मादक पदार्थ ये सब ऐसे रसायन हैं जो उच्च मस्तिष्क को दबाकर निम्न मस्तिष्क को उसके प्रभाव से मुक्त कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि इन मादक पदार्थों का सेवन करनेवाला व्यक्ति नशे की अवस्था में निर्द्वन्द्व सुख का अनुभव करता है। ये रसायन भी केवल अस्थायी रूप से ही द्वन्द्वों को शान्त करने में समर्थ होते हैं, तथा इनके दुष्परिणाम भी सर्वविदित ही हैं। औषधियाँ तो दो धार वाली तलवार के समान हैं। इनकी सहायता से द्वन्द्वों से स्थायी मुक्ति सम्भव नहीं।

ऐसे व्यक्तियों के मस्तिष्क पर उपचार हेतु कुछ आश्चर्यजनक आपरेशन किये गये हैं, जो मानसिक तनाव, भावनात्मक असन्तुलन और अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित होते हैं, जो संयमहीन, अशान्त, क्रोधी और उत्तेजित स्वभाव के होते हैं तथा जिनका जीवन स्वयं और दूसरों के लिए कष्टप्रद हो जाता है। इन आपरेशनों में या तो प्री-फ्रॉन्टल एरिया (उच्च मस्तिष्क) को काटकर निकाल दिया जाता है (Prefrontal Lobectomy), अथवा उसके और सब-कॉर्टिकल एरिया (निम्न मस्तिष्क) के बीच के स्नायु-सम्बन्धों को काट दिया जाता है (Prefrontal

Leucotomy)। इन आपरेशनों का प्रयोजन निम्न मस्तिष्क पर उच्च मस्तिष्क के अत्यधिक नियंत्रण को दूर करना है, जो मानसिक रोग का कारण होता है।

आपरेशन के बाद इन रोगियों के स्वभाव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूलभूत परिवर्तन देखे गये हैं। वे मिलन-सार, हँसमुख पर साथ ही लापरवाह और निरुद्यमी (easy-going) हो जाते हैं। गाना-बजाना, खेल-कूद, बागवानी आदि सरल व्यसनों में रुचि बढ़ जाती है, किन्तु दीर्घकाल तक निरन्तर किसी भी कार्य को जिम्मेदारी के साथ करने की क्षमता नष्ट तो जाती है। धर्म और ईश्वर में श्रद्धा आपरेशन के बाद समाप्त हो जाती है। चरित्र छिछला और रूखा हो जाता है। गम्भीरता नहीं रह जाती। वे न किसी का बुरा चाहते हैं, न करते हैं, पर भला भी नहीं सोच पाते। गहरी मित्रता करने में वे असमर्थ हो जाते हैं। उनके परिवर्तित स्नेह, सहानु-भूति और ममता के अभाव तथा जिद्दी स्वभाव के कारण परिवार के लोगों का उनके साथ रहना कठिन हो जाता है। संक्षेप में, उनके मानसिक तनावों में सुधार अवश्य होता है किन्तु वे मानो अपनी बुद्धि और हृदय खोकर यंत्र मात्र रह जाते हैं।

इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि औषधियाँ और आपरेशन आदि कृत्रिम उपाय जीवन में वास्तविक सुख का संचार नहीं कर सकते। औषधियाँ मानसिक द्वन्द्वों को केवल अस्थायी रूप से शमित कर क्षणिक

आनन्द दे सकती हैं। आपरेशन केवल मानसिक रोग-ग्रस्त व्यक्तियों के लिये उपयोगी हैं, और सामान्य मनुष्यों के प्रतिदिन के अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करने में उनका कोई उपयोग नहीं हैं। यह ठीक है कि आपरेशन के द्वारा रोगियों के मानसिक तनावों को स्थायी रूप से शान्त किया जा सकता है, किन्तु उसके अन्य परिणाम मनुष्य के दैवी गुणों का नाश कर उसे पशुतुल्य बना देते हैं। ये सारे कृत्रिम उपाय मनुष्य को पशु बना सकते हैं, सन्त नहीं; आवेग-चालित बना सकते हैं, विवेक-चालित नहीं। कोई भी सभ्य नागरिक इन कृत्रिम उपायों की सीमाओं को समझकर इनके उपयोग का समर्थन नहीं करेगा।

योगशास्त्र निर्द्वन्द्व सुख की प्राप्ति के लिये जो उपाय सुझाता है, वे पूर्वोक्त उपायों से भिन्न हैं। उनका अवलोकन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण अगले लेखों में किया जायेगा।

●

विकास ही जीवन है और संकोच, मृत्यु।

—स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से अधिक)

स्वामीजी का अपने देश के प्रति प्रेम, अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा तथा अपनी जाति के प्रति स्वाभिमान अप्रतिम था। और यह उनके व्याख्यानों में समय समय पर परिलक्षित होता रहता था। अपने देश और धर्म के प्रति अपमानजनक बातें उन्हें कभी सह्य नहीं होती थीं। वे तुरन्त अपने तीक्ष्ण तर्कों और मर्मभेदी वाक्य-प्रहारों से विरोधियों का मुँह बन्द कर देते थे। महासभा में कट्टरपन्थी ईसाई, हिन्दू धर्म के प्रति लोगों की बढ़ती हुई श्रद्धा को देखकर, उसे नीचा दिखाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे तथा अत्यन्त निम्नस्तरीय वार्ता पर उतर आये थे जो महासभा की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था। स्वामीजी ने एक दिन अपने भाषण के दौरान कहा, "श्रोताओं में से जिन्होंने हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों को पढ़ा है और इसलिए जो हिन्दू धर्म के बारे में पूर्ण ज्ञान रखते हैं, वे कृपया अपने हाथ उठावें।" उस विशाल जनसमुदाय में, जिसमें विभिन्न देशों के प्रमुख धर्मनेता उपस्थित थे, केवल तीन या चार हाथ ऊपर उठे। एक व्यंगभरी दृष्टि सभा पर फेंकते हुए, दृढ़ता से खड़े होकर स्वामीजी ने उपालम्भ-भरे स्वर में कहा, "इसके बावजूद भी आप हमारी आलोचना करने का साहस करते हैं!"

कहना न होगा कि इस छोटे से वाक्य का एक-एक शब्द श्रोताओं के हृदय में तीर की नाईं बिंध गया।

२६ सितम्बर को उन्होंने धर्मसभा में "बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म का परिपूरक है" विषय पर व्याख्यान दिया। इसमें उन्होंने बताया, "शाक्यमुनि ने कोई नयी शिक्षा देने के लिए अवतार नहीं लिया था। वे तो ईसा के ही समान धर्म की सम्पूर्ति के लिए आये थे, उसका विनाश करने नहीं। अन्तर यह था कि जहाँ ईसा को प्राचीन यहूदी ठीक तरह से नहीं समझ पाये, वहाँ बुद्धदेव की शिक्षा को स्वयं उनके शिष्य ही ठीक न समझ सके। . . .वे यह न समझ सके कि बुद्धदेव की शिक्षाएँ हिन्दू धर्म के सत्यों की ही परिणति हैं। शाक्यमुनि ध्वंस करने नहीं आये थे वरन् वे हिन्दू धर्म की पूर्णता के सम्पादक थे, उसकी स्वाभाविक परिणति थे, उसका युक्तिसंगत सिद्धान्त थे एवं न्यायसम्मत विकास थे।"

हिन्दू धर्म के दो भागों——कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—— की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "ज्ञानकाण्ड में जातिभेद नहीं है। भारत में उच्च और निम्न जाति के लोग भी संन्यासी हो सकते हैं। शाक्यमुनि स्वयं संन्यासी थे। यह उनके विशाल हृदय की महिमा ही थी कि उन्होंने वेदों के छिपे हुए सत्यों को निकालकर उनका प्रचार सारे संसार में किया। इस जगत् में सबसे पहले वे ही ऐसे हुए जिन्होंने धर्मप्रचार की प्रथा चलायी; यही नहीं, बल्कि मनुष्य को दूसरे धर्म से अपने धर्म में

दीक्षित करने का विचार भी सबसे पहले उन्हीं के मन में उदित हुआ।"

अन्त में उन्होंने कहा," हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही। बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शनशास्त्र और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते और न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल हृदय के बिना। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह विभेद ही भारतवर्ष की अवनति का कारण है। यही कारण है कि आज भारत तीस करोड़ भिक्षुकों की आवासभूमि हो गया है और सहस्र वर्षों से विदेशी आक्रमणकारियों का दास बना हुआ है। अतः आओ, हम ब्राह्मणों के उस अपूर्व मस्तिष्क के साथ महापुरुष बुद्ध के उस अद्‌भुत हृदय, उनकी महानुभवता और लोकहितकारी शक्ति को मिलाकर एक कर दें।"

२७ सितम्बर को धर्म-महासभा का अन्तिम दिन था। सत्रह दिन के व्यस्त कार्यक्रम के बाद सभा समाप्त होनेवाली थी। महासभा के अध्यक्ष डा. बैरोज लिखते हैं, "सात हजार से भी अधिक लोग वाशिंगटन और कोलम्बस हॉलों में भरे हुए थे। सभा के प्रारम्भ होने से एक घंटे पूर्व ही उत्सुक जनता आर्ट-पैलेस के दरवाजों तक खचाखच भरी हुई थी।"

अपने संक्षिप्त बिदाई भाषण में स्वामीजी ने धर्म-महासभा के आदर्श को विपुल जनसमुदाय के सम्मुख रखते हुए कहा, "ईसाई को हिन्दू या बौद्ध

नहीं होना है और न हिन्दू या बौद्ध को ईसाई ही बनना है। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरे के सारभाग को आत्मसात् कर पुष्टि लाभ करे तथा अपने वैशिष्टय की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि प्राप्त करे।

"इस सर्व-धर्म-परिषद् ने यदि जगत् के सम्मुख कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है–उसने सिद्ध कर दिखाया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायविशेष की सम्पत्ति नहीं है तथा प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ और अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है।

"अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद अगर कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जायेंगे और केवल उसका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और यह स्पष्ट बताये देता हूँ कि वह दिन दूर नहीं, जब उस-जैसे लोगों के अड़ंगों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा––'सहयोग, न कि विरोध', 'पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश', 'समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह'।"

धर्म-महासभा समाप्त हुई। "इसके तात्कालिक परिणाम भी मिश्रित हुए"––जैसा कि श्रीमती बर्क 'न्यू डिस्कवरी' में लिखती हैं––"यह कहना सही है कि जो

धर्मान्ध थे वे और भी धर्मान्ध हो गये, क्योंकि उन्होंने मुँह की खायी। (क्योंकि उनका ईसाई धर्म को एक विश्व-धर्म के रूप में देखने का स्वप्न पूरा नहीं हुआ।) और जो उदारमना थे, वे और भी उदार हो गये क्योंकि अब उनकी धारणाओं की परिपुष्टि हो गयी। यह दूसरा फल निस्सन्देह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चिरस्थायी था।"

यद्यपि स्वामीजी का अन्तिम भाषण छोटा सा था तथापि इस संक्षिप्त भाषण ने न केवल धर्ममहासभा के उदात्त और मंगलकारी परिणाम की ओर समग्र मानव-जाति का ध्यान आकर्षित किया वरन् समस्त धर्मों की सत्यता और प्रत्येक की मानवमात्र के लिए उपादेयता और महत्ता को भी प्रतिपादित किया। किन्तु कट्टरपंथी ईसाई उनके इस भाषण से प्रसन्न नहीं हुए। स्वामीजी की यह वाणी कि ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना है और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही—उन्हें कड़ुवी घूँट सी लगी क्योंकि धर्मसभा के प्रारम्भ से ही उनका यह प्रयास था कि हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना चाहिए। अब अपनी इस आशा को फलवती न होते देख वे स्वामीजी के कट्टर विरोधी हो गये। पर दूसरी ओर एक विपुल जनसमुदाय था, जो स्वामीजी का हृदय से प्रशंसक था। स्वतंत्र आस्थावाले ये सहस्रों नरनारी पादरियों की पोप-लीला से त्रस्त थे। अपने धर्म के अँधेरे बन्द कमरे में वे उन्मुक्तता की एक खुली साँस के लिए छटपटा रहे थे। स्वामीजी के विचारों ने उन्हें एक

नवीन आलोक प्रदान किया, 'अनन्त नरक' की भयावह कष्टप्रद धारणा से उन्हें उबारकर शाश्वत अमृतमय आनन्द की प्राप्ति का मार्ग दिखाया, उन्हें अपने धर्म के तंग दायरे से निकालकर दूसरे धर्मों के प्रति श्रद्धा और भक्ति का पाठ पढ़ाया। अनेक समाचार-पत्रों ने स्वामीजी की प्रशस्ति में अपने कालम भरे थे। 'न्यूयार्क क्रिटिक' के ३ अक्तूबर के अंक में उसकी संवाददाता लूसी मनरो ने धर्मसभा के अन्तिम दिवस का विवरण देते हुए लिखा—

"...यद्यपि सभा में होनेवाले बहुत से भाषण संक्षिप्त और वाक्पटुता से पूर्ण थे, तथापि सम्मेलन की भावनाओं, सीमाओं और उसके सुन्दर प्रभाव को जितनी अच्छी तरह हिन्दू संन्यासी ने व्यक्त किया, उतना और किसी ने भी नहीं किया। मैं उनके भाषण की पूरी प्रतिलिपि दे रही हूँ, किन्तु मैं श्रोताओं पर पड़े उसके प्रभाव की ओर संकेत मात्र कर सकती हूँ क्योंकि वे दैवी अधिकार-सम्पन्न सिद्ध वक्ता हैं। साथ ही उनका सुदृढ़, बुद्धिसम्पन्न तेजस्वी चेहरा और उनका गेरुआ वस्त्र भी उनकी गम्भीर, प्रभावशाली, लालित्यपूर्ण मधुर-वाणी की अपेक्षा कम आकर्षक नहीं है।....(स्वामीजी के अन्तिम भाषण के एक बड़े अंश का उद्धरण देने के पश्चात् लेखिका लिखती हैं—)

"सम्भवत: सम्मेलन का सबसे प्रत्यक्ष परिणाम जो निकला, वह था विदेशों में कार्यरत मिशनों के औचित्य

के बारे में लोगों के मन में शंका पैदा करना। बुद्धि-सम्पन्न, सुशिक्षित प्राच्यवासियों को शिक्षा देने के लिए अर्धशिक्षित विद्यार्थी भेजने की धृष्टता को अंग्रेजी भाषा-भाषी जनता के सामने इतनी प्रबलता से और कभी व्यक्त नहीं किया गया था। हम यदि दूसरों के धर्म को छूना चाहते हैं तो सहिष्णुता और सहानुभूति का दृष्टिकोण लेकर ही वैसा करें। पर इन गुणों से युक्त उपदेशक बहुत कम हैं। यह समझ लेना आवश्यक है कि हमें भी बौद्धों से उतना ही सीखना है जितना कि उन्हें हमसे, और केवल पारस्परिक समन्वय के द्वारा ही प्रबलतम प्रभाव डाला जा सकता है।"

श्री मरविन-मैरी स्नेल ने, जो कि धर्मसभा की विज्ञानशाखा के अध्यक्ष थे, स्वामीजी के बारे में उद्‌गार प्रकट करते हुए लिखा था, "धर्म-महासभा के ऊपर तथा विशेषकर अमरीकी जनता के ऊपर जैसा अमिट प्रभाव हिन्दू धर्म ने डाला वैसा और कोई धर्म नहीं कर पाया। और इस हिन्दू धर्म के सबसे विलक्षण प्रतिनिधि थे स्वामी विवेकानन्द, जो कि वास्तव में निस्सन्दिग्ध रूप से महासभा के सबसे अधिक जनप्रिय और प्रभावशाली व्यक्ति थे। महासभा के कक्ष में तथा उसकी विज्ञान-शाखा के अधिवेशनों में, जिनकी अध्यक्षता करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन्होंने कई बार वक्तृताएँ दीं और प्रत्येक बार वे श्रोताओं द्वारा, अन्य ईसाई अथवा गैर-ईसाई वक्ताओं की अपेक्षा, अधिक उत्साह के साथ

सत्कारित हुए। वे जहाँ भी जाते, लोग उन्हें घेर लेते और उनके एक एक शब्दों पर कान लगाये रहते।.... अत्यन्त कट्टर से कट्टर ईसाई भी उनके बारे में कह उठता, 'वास्तव में यह व्यक्ति मनुष्यों में राजा है!' "

रेवरेण्ड डब्ल्यू. एच्. थामस ने जो कि धर्मसभा के प्रमुख श्रोताओं में से एक थे, 'विस्कॉन्सिन स्टेट जर्नल' के १८ नवम्बर, १८९३ के अंक में लिखा था--

"प्राच्य के समस्त विद्वानों में, जिन्होंने महान् विश्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लिया था, स्वामी विवेकानन्द सर्वाधिक जनप्रिय थे। जब यह पता चलता कि वे वक्तृता देनेवाले हैं, तो हजारों लोगों को स्थाना भाव के कारण हताश होना पड़ता। वह महज कौतूहल मात्र न था जो लोगों को खींच लाता। जो भी उन्हें एक बार सुन लेता, वह उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की आकर्षण-शक्ति से, उनकी मुग्धकारी ओजपूर्ण वक्तृताओं से, अंग्रेजी भाषा पर उनके पूर्ण अधिकार से तथा, सर्वोपरि, उत्कट आन्तरिकता से कहे गये उनके विचारों से इतना प्रभावित हो जाता कि उन्हें बार बार सुनने की उसकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती। अपने सुदूरवर्ती देश के धर्म और रीति-रिवाजों की सत्यकथा सुनानेवाले, अपनी जातीय वेशभूषा में सज्जित इस महान् धीर-गम्भीर, स्नेह से परिपूर्ण ब्राह्मण का दर्शन करना और उसे सुनना हमारे देश के नगरों के जीवन-काल में एक अभूतपूर्व अवसर होगा।"

तो, एक ओर थी उदार अमरीकी जनता जो स्वामीजी

को सर-आँखों पर उठा रही थी, और दूसरी ओर थे ईर्ष्या और द्वेष की ज्वाला में दग्ध कट्टर पादरी लोग। उन्होंने हर सम्भव उपाय द्वारा स्वामीजी को बदनाम करने का प्रयत्न किया। जैसा हमने देखा, रेवरेण्ड थामस ने स्वामीजी को ब्राह्मण कहकर सम्बोधित किया था। पर स्वामीजी ब्राह्मण नहीं थे। अनभिज्ञता के फलस्वरूप ही रे. थामस ने उन्हें ब्राह्मण कहा था, जिसका आशय था--एक उच्चकोटि का हिन्दू, जो धर्मोपदेशक है। इसी तरह उन्हें कई जगह 'भारतीय राजा', 'ब्रह्म का उच्च उपदेशक', 'बौद्ध वक्ता', 'थियोसॉफिस्ट' आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया। स्पष्ट है कि इन नामों के पीछे भावना यह थी कि वे हिन्दू धर्म के एक महान् प्रवक्ता हैं और इसीलिए स्वामीजी ने इन्हें महत्त्वहीन समझ कभी इनका प्रतिवाद नहीं किया। पर स्वामीजी के विरोधियों ने इन्हीं छोटी बातों का बतंगड़ बनाया और समाचार-पत्रों में प्रकाशित गलत तथ्यों का सहारा ले उन्हें भारत में बदनाम करने का प्रयास किया कि वे अपने को ब्राह्मण कहते हैं, आदि आदि।

स्वामीजी के प्रति ईसाई पादरियों के विद्वेष का एक दूसरा भी कारण था। वह था उनके धनोपार्जन पर कुठाराघात। अब तक भारतीयों की दशा का कुत्सित चित्रण कर, उनको शिक्षित करने और ईसाई धर्म का प्रचार करने के बहाने वे अमरीकी जनता से प्रचुर धनराशि प्राप्त करने रहे थे। किन्तु अब स्वामीजी के

भाषणों को सुन लोगों की भारत के प्रति धारणा बदलने लगी और मिशनरियों पर से उनकी आस्था खत्म होने लगी और इस तरह भारत की आड़ में रोटी सेंकने में मिशनरियों को कठिनाई होने लगी।

स्वामीजी के विरोधियों में केवल ईसाई मिशनरी ही नहीं थे, वरन् रमाबाई संस्था के सदस्य और थियोसॉफिस्ट भी थे। यहाँ तक कि, उनके विरुद्ध दुष्प्रचार करने में ब्राह्म-समाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजूमदार का भी सक्रिय हाथ था।

रमाबाई संस्था के बारे में हम पहले ही देख चुके हैं कि किस तरह यह संस्था भारतीय महिलाओं का गर्हित वर्णन कर उनके उद्धार के नाम पर चन्दा जमा किया करती थी। पर स्वामीजी द्वारा भारतीय महिलाओं का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करने से रमाबाई संस्था के स्वार्थ पर चोट पहुँची और इस कारण उसके सदस्य स्वामीजी के प्रबल विरोधी हो उठे। कह चुके हैं कि इन विघ्न-सन्तोषियों में थियोसॉफिस्ट भी थे। किस तरह उन लोगों ने स्वामीजी के मार्ग में कण्टक बिछाये इसका वर्णन स्वामीजी ने बाद में अपने मद्रास में दिये सुप्रसिद्ध भाषण 'मेरी समर नीति' में करते हुए कहा था—

"एक अफवाह चारों ओर फैल रही है और वह यह कि अमेरिका और इंग्लैंड में जो कुछ काम मैंने किया है, उसमें थियोसॉफिस्टों ने मेरी सहायता की है। मैं आप लोगों को स्पष्ट शब्दों में बता देना चाहता हूँ कि

इसका प्रत्येक शब्द गलत है, प्रत्येक शब्द झूठ है। आज से चार वर्ष पहले जब मैं अमेरिका जा रहा था—सात समुद्र पार, बिना किसी परिचय-पत्र के, बिना किसी जान-पहिचान के, एक धनहीन मित्रहीन अज्ञात संन्यासी के रूप में—तब मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी के नेता से भेंट की थी। स्वभावतः मैंने सोचा था कि जब ये अमेरिकावासी हैं और भारत-भक्त हैं, तो सम्भवतः अमेरिका के किसी सज्जन के नाम मुझे एक परिचय-पत्र दे देंगे। किन्तु जब मैंने उनके पास जाकर इस प्रकार के परिचय-पत्र के लिए प्रार्थना की, तो उन्होंने पूछा, 'क्या आप हमारी सोसायटी के सदस्य बनेंगे?' मैंने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं किस प्रकार आपकी सोसायटी का सदस्य हो सकता हूँ? मैं तो आपके अधिकांश सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करता।' उन्होंने कहा, 'तब मुझे खेद है, मैं आपके लिये कुछ भी नहीं कर सकता।' क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था?...धर्ममहासभा के कई मास पूर्व ही मैं अमेरिका पहुँच गया था। मेरे पास रुपये बहुत कम थे, और वे शीघ्र ही समाप्त हो गये। इधर जाड़ा भी आ गया, और मेरे पास थे सिर्फ गरमी के कपड़े। उस घोर शीतप्रधान देश में मैं आखिर क्या करूँ, यह कुछ सूझता न था। यदि मैं मार्ग में भीख माँगने लगता, तो परिणाम यही होता कि मैं जेल भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास कुछ ही डालर बचे थे। मैंने अपने मद्रासवासी मित्रों के पास तार भेजा।

यह बात थियोसॉफ़िस्टों को मालूम हो गयी और उनमें से एक ने लिखा–'अब शैतान शीघ्र ही मर जायगा; ईश्वर की कृपा से अच्छा ही हुआ ! बला टली !' तो क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था ?...मैंने धर्मसभा में कई थियोसॉफ़िस्टों को देखा। मैंने उनसे बातचीत करने और मिलने-जुलने की चेष्टा की। उन लोगों ने जिस अवज्ञाभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा, वह आज भी मेरी नजरों पर नाच रही है–मानो वह दृष्टि कह रही थी, 'यह कहाँ का क्षुद्र कीड़ा यहाँ देवताओं के बीच आ गया !' मैं पूछता हूँ, क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था ? हाँ, तो धर्म-महासभा में मेरा बहुत नाम तथा यश हो गया और तब से मेरे ऊपर अत्यधिक कार्य-भार आ गया। पर प्रत्येक स्थान पर इन लोगों ने मुझे दबाने की चेष्टा की।... पर वे यहीं पर नहीं रुके, वे दूसरे विरोधी पक्ष–ईसाई मिशनरियों–से जा मिले। इन ईसाई मिशनरियों ने मेरे विरुद्ध ऐसे ऐसे भयानक झूठ गढ़े, जिनकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। यद्यपि मैं उस परदेश में अकेला और मित्रहीन था, तथापि उन्होंने प्रत्येक स्थान पर मेरे चरित्र पर दोषारोपण किया। उन्होंने मुझे हर मकान से बाहर निकाल देने की चेष्टा की, और जो भी मेरा मित्र बनता उसे मेरा शत्रु बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे भूखों मार डालने की कोशिश की; और यह कहते हुए मुझे दुःख होता है कि उस काम में मेरे एक भारतवासी भाई का भी हाथ था।"

यह भारतवासी भाई और कोई नहीं, ब्राह्म-समाज के नेता प्रतापचन्द्र मजूमदार ही थे। मजूमदार महाशय ब्राह्म-प्रतिनिधि के रूप में धर्ममहासभा में उपस्थित हुए थे। वे इसके पूर्व भी अमेरिका गये थे और वहाँ के जन-समाज में काफी यश अर्जित किया था। ये स्वामीजी से पूर्व-परिचित थे और श्रीरामकृष्ण के पास आया-जाया करते थे। इन्होंने 'परमहंस रामकृष्ण' के नाम से एक सुन्दर लेख भी लिखा था। पर जब उन्होंने महासभा में स्वामीजी की महती सफलता देखी, तो उनके हृदय में ईर्ष्या के शूल उठने लगे। उन्हें यह सहन नहीं हुआ कि कोई दूसरा भारतीय उनसे बाजी मार ले जाय। इसलिए उन्होंने उनके विरुद्ध दुष्प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। इसके बारे में स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को १९ मार्च, १८९४ को लिखा था--

"...प्रभु की इच्छा से मजूमदार महाशय से मेरी यहाँ भेंट हुई। पहले तो बड़ी प्रीति थी, पर जब सारे शिकागो शहर के नर-नारी मेरे पास झुण्ड के झुण्ड आने लगे, तब मजूमदार भैया के मन में आग जलने लगी। मैं तो देख-सुनकर दंग रह गया! ...मेरे-जैसा उनका सत्कार नहीं हुआ, तो इसमें मेरा क्या दोष? ...और मजूमदार ने धर्म-महासभा में एवं पादरियों के पास मेरी यथेष्ट निन्दा की। 'वह नीच है, ठग है, ढोंगी है; वह तुम्हारे देश में कहता है कि मैं साधु हूँ'--आदि बातें कहकर उन्होंने उनके मन में मेरे बारे में गलत धारणा

पैदा कर दी। प्रेसीडेण्ट बैरोज़ के मन में तो मेरे बारे में इतनी गलतफहमी पैदा कर दी है कि वे अब मुझसे अच्छी तरह बातचीत भी नहीं करते। वे लोग पुस्तकों और पत्रकों द्वारा मुझे दबाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु गुरुदेव मेरे साथ हैं। फिर दूसरे लोग भला क्या कर सकते हैं? सारा अमेरिका देश मेरा आदर करता है, भक्ति करता है, मुझे गुरु जैसा मानता है—मजूमदार बेचारा क्या करे? पादरी इत्यादि भी मेरा क्या कर सकते हैं? फिर यहाँ के लोग भी तो विद्वान् हैं। यहाँ सिर्फ इतना ही कहने से नहीं बनता—'हम लोग विधवाओं से शादी करते हैं', 'हम लोग मूर्तिपूजा नहीं करते', इत्यादि इत्यादि। केवल पादरियों के यहाँ यह बात चलती है। भाई, ये लोग तत्त्वज्ञान सीखना चाहते हैं, विद्या चाहते हैं, कोरी बातों से नहीं चलेगा।"

स्वामीजी ने मद्रास में प्रदत्त अपने पूर्वोक्त व्याख्यान—'मेरी समर नीति'—में मजूमदार का उल्लेख करते हुए कहा था——

"ये भारत में एक सुधारक दल के नेता हैं। ये सज्जन प्रतिदिन घोषित करते हैं कि 'ईसा भारत में आये हैं।' तो क्या इसी प्रकार ईसा भारत में आयेंगे? क्या इसी प्रकार भारत का सुधार होगा? इन सज्जन को मैं अपने बचपन से ही जानता था, ये मेरे परम मित्र भी थे। जब मैं उनसे मिला, तो बड़ा ही प्रसन्न हुआ, क्योंकि मैंने बहुत दिनों से अपने किसी देश-भाई

को नहीं देखा था। पर उन्होंने मेरे प्रति कैसा व्यवहार किया! जिस दिन धर्म-महासभा ने मुझे सम्मानित किया, जिस दिन शिकागो में मैं लोकप्रिय हो गया, उसी दिन से उनका स्वर बदल गया और छिपे छिपे मुझे हानि पहुँचाने में उन्होंने कोई कसर उठा न रखी। मैं पूछता हूँ, क्या ईसा इसी तरह भारतवर्ष में आयेंगे ? क्या बीस वर्ष ईसा की उपासना कर उन्होंने यही शिक्षा पायी है ? हमारे ये बड़े बड़े सुधारकगण कहते हैं कि ईसाई धर्म और ईसाई लोग भारतवासियों को उन्नत बनायेंगे। तो क्या वह इसी प्रकार होगा? यदि उक्त सज्जन को इसका एक उदाहरण लिया जाय तो निस्सन्देह स्थिति कोई आशाजनक प्रतीत नहीं होती...।"

मजूमदार के विरोध का कारण न केवल ईर्ष्या ही थी वरन् विचारों का प्रचण्ड संघर्ष भी था। ब्राह्म-समाज को हिन्दू धर्म का ईसाई संस्करण ही कहा जा सकता है। जहाँ ब्राह्म अपने को हिन्दू धर्म से प्रभावित मानते थे, वहीं वे उसके उन सामाजिक आचार-व्यवहारों और रीति-रिवाजों का विरोध करते थे जो पाश्चात्यवासियों की दृष्टि में अन्धविश्वास-पूर्ण और निकृष्ट थे और इसीलिये वे उनकी हाँ में हाँ मिला हिन्दू धर्म की निन्दा किया करते थे। ९ सितम्बर, १८९३ की 'एडवोकेट' नामक पत्रिका में छपा था—"ब्राह्म-समाज के प्रधान प्रतिनिधि (मजूमदार) ने थोड़ी सतर्कता के साथ कहा कि उन्होंने अपना धर्म मिशनरियों द्वारा प्राप्त नहीं किया

किन्तु यह हिन्दू धर्म की ही परिणति मात्र है। हिन्दू धर्म तथा अन्यान्य धर्मों में जो कुछ सत्य है उसे ग्रहण करते हुए वह अपनी चरम परिणति यीशु मसीह को भगवान् के पुत्र के रूप में स्वीकार करने में तथा उन्हें संसार का उद्धारकर्ता मानने में, पाता है।"

इस तरह मजूमदार महाशय ने पादरियों के साथ मिलकर हिन्दू धर्म के विरुद्ध यथेष्ट दुष्प्रचार किया था। पर स्वामीजी को यह किसी रूप में सह्य न था और उन्होंने, जैसा आगे हम देखेंगे, जगह जगह इसका दृढ़तापूर्वक प्रतिकार किया। यीशु मसीह पर स्वामीजी की अपार श्रद्धा और भक्ति थी, पर वे कदापि यह स्वीकारने के लिये तैयार नहीं थे कि हिन्दू धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा किसी अंश में हीन है। बुराई किस धर्म में नहीं है? अन्धविश्वास कहाँ नहीं है? धर्म के नाम पर अत्याचार कहाँ नहीं हुआ है? भारत में जो बुराइयाँ आ गयी हैं वह धर्म के कारण नहीं, वरन् आदर्शों से च्युत होने के कारण उत्पन्न हुईं। अतः बुराइयों को दूर करने का उपाय यह नहीं कि हिन्दू धर्म की जी भरकर निन्दा की जाय, वरन् सही उपाय तो यह है कि उन आदर्शों की पुनः स्थापना की जाय। सती-दाह, बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों का स्वामीजी ने समर्थन नहीं किया, वरन् उनके मूल में स्थित आदर्शों की ओर उन्होंने अपने प्रश्नकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया। जब विरोधीगण हिन्दू-समाज के रीति-रिवाजों की निन्दा

करने लगते, तब वे उनके स्वयं के धर्म के नाम पर हुए नृशंस अत्याचारों और अनाचारों का ज्वलन्त वर्णन कर उनका मुँह बन्द कर देते। यही कारण था कि उनके सामने हिन्दू धर्म और समाज के प्रति दुर्वचन कहने का दुस्साहस कोई नहीं कर पाता था। (क्रमशः)

यह एक बड़ी सचाई है; शक्ति ही जीवन और कमजोरी ही मृत्यु है। शक्ति परम सुख, जीवन अजर अमर है; कमजोरी कभी न हटनेवाला बोझ और यंत्रणा है; कमजोरी ही मृत्यु है।

•

यदि मानवजाति के आज तक के इतिहास में महान् पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति कोई है, तो वह आत्मविश्वास ही है। जन्म से ही यह विश्वास रहने के कारण कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए है, वे महान् बने।

•

मनुष्य को, वह जितना नीचे जाता है जाने दो; एक समय ऐसा अवश्य आएगा, जब वह ऊपर उठने का सहारा पाएगा और अपने आप में विश्वास करना सीखेगा। पर हमारे लिए यही अच्छा है कि हम इसे पहिले से ही जान लें। अपने आप में विश्वास करना सीखने के लिए हम इस प्रकार के कटु अनुभव क्यों करें?

--स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न––मुझे साधना में कोई प्रगति नहीं दिखाई देती। अतएव साधना करने की इच्छा भी नहीं होती। मुझे क्या करना चाहिए ?

–रमेश श्रीवास्तव, जबलपुर

उत्तर––साधना के क्षेत्र में शीघ्र ही उल्लेखनीय प्रगति का अनुभव नहीं होता, क्योंकि साधना का सम्बन्ध मन के संस्कारों को बदलने से होता है। मन के संस्कारों में अभ्यास के द्वारा परिवर्तन तो होता है, पर इस परिवर्तन का बोध आगे चलकर ही हो पाता है। अतः साधना का अभ्यास करना न छोड़ें। अध्यात्म के रास्ते यह एक बड़ा विघ्न है कि मन किसी न किसी बहाने साधना से छुटकारा पाना चाहता है। हम मन पर नियन्त्रण के अभ्यास को शिथिल न करें। अभ्यास की इच्छा न हो तो भी वाचन, मनन इत्यादि में मन को नियमित रूप से लगाने का प्रयत्न करें।

श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज नवजात बछड़े का दृष्टान्त देकर कहा करते थे कि बछड़ा जन्म के थोड़ी ही देर बाद अपने पैरों पर खड़ा होने का यत्न करता है। पर वह गिर जाता है। बछड़ा बारम्बार खड़ा होने की कोशिश करता है और बार बार गिर पड़ता है–१५ मिनट, आधा घण्टा, एक

घण्टा; जब तक वह उठकर खड़ा नहीं हो जाता तब तक उसका प्रयत्न चलता रहता है। और कुछ समय बाद तो वह केवल खड़ा ही नहीं हो जाता, बल्कि कुलाँचे भरने लगता है। आध्यात्मिक जीवन में भी ऐसा ही होता है। एक निश्चय हमने किया कि हम इतनी देर तक ध्यान करेंगे। प्रमाद आकर हमें दबोच लेता है और कहता है—"आज भर ध्यान न किया तो कौन सा हर्ज हो जायगा?" या फिर हम मन की चंचलता और विकार के शिकार हो जाते हैं और हमारा निश्चय कपूर की तरह उड़ जाता है। पर यदि हम गिरे भी तो पुनः उठ खड़ा होना चाहिए। अध्यवसायपूर्वक लगे रहें। मन ही मन प्रतिज्ञा करें—"इस बार और भी अच्छा करूँगा।" हो सकता है कि कई बार गिरना पड़े, ध्येय से च्युत होना पड़े, पर अभ्यास को न छोड़ें। आध्यात्मिक जीवन में जब तक प्रयास चल रहा है तब तक असफलता की कोई बात नहीं है। यही आगे बढ़ने का रास्ता है।

प्रश्न—आपने बम्बई में अपने एक भाषण में कहा था कि धर्म भी पूरी तरह वैज्ञानिक है। तो क्या धर्म के प्रयोग भी विज्ञान के प्रयोग के समान सिद्ध किये जा सकते हैं?

—डा० सरस्वती मेहता, बम्बई

उत्तर—हाँ, धर्म भी एक विज्ञान है। धर्म का प्रयोग सर्वसाधारण के लिए कठिन इसलिए हो जाता है कि इसमें मन ही प्रयोग का औजार है और प्रयोग की वस्तु भी। पर यदि व्यक्ति लगन के साथ इस प्रयोग में किसी कुशल पथप्रदर्शक के नेतृत्व में जूझ जाय, तो विज्ञान के प्रयोग के समान यह प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—भारतीय दर्शन, और विशेषकर वेदान्त, कहता है कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य है और इन्द्रियों के माध्यम से हम

जिस जगत् को देखते हैं वह मिथ्या है। पहले तो यही विश्वास करना कठिन है कि ईश्वर का अस्तित्व है। फिर यह कैसे विश्वास किया जाय कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य है? वेदान्त के उक्त कथन की क्या कोई युक्तिसंगत या वैज्ञानिक भूमिका है?

—डा. नरेश जोहर, दिल्ली

उत्तर—आपकी कठिनाई उचित है। जब तक हमारे लिए यह इन्द्रियग्राह्य जगत् सत्य है तब तक ईश्वर की प्रतीति नहीं हो पाती। परन्तु जीवन में ऐसे भी अवसर अवश्य आते हैं जब हमें जीवन की असारता मालूम होने लगती है। हम संसार में सब कुछ पकड़कर रखना चाहते हैं पर मुट्ठी में बँधे जल की तरह सब कुछ हमारी पकड़ से निकलकर बह जाता है। ऐसे अवसरों पर हमें संसार के मिथ्यात्व का बोध होता है और हमारा अन्तःकरण ईश्वर की ओर झुकता है।

पता नहीं कि आपकी उम्र कितनी है, पर प्रश्न को देखकर यह लगता है कि अभी आपमें यौवन का उत्साह भरा हुआ है। भगवान् करे, दीर्घकाल तक यह उत्साह आपमें बना रहे। किन्तु कालक्रम से जब शरीर और इन्द्रियों पर बुढ़ापा उतरता है तथा मन शिथिलता के द्वारा आक्रान्त होता है, तब संसार पहले जैसा सुनहला नहीं दिखायी देता। जवानी की उमंग हमारी बाहरी और भीतरी आँखों पर जो परदा डाल देती है, वह वय के भार से झीना हो जाता है और संसार का एक भिन्न, अपरिचित रूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। तब हमें प्रतीत होने लगता है कि संसार मिथ्या है और कोई ऐसी सत्ता है जो सर्वनियामक शक्ति के रूप में अनुस्यूत होकर स्थित है। तब हमें लगता है कि हम बलात् किसी अदृश्य शक्ति द्वारा नियंत्रित हो रहे हैं। तब, और केवल तभी, हमें ईश्वर की आवश्यकता महसूस होती है।

अतएव आज कोई भी तर्क आपको जगत् का मिथ्यात्व नहीं समझा सकेगा, और न वह ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण ही दे सकेगा। काल ही गुरु है। वह हमें यथोचित शिक्षा प्रदान करता है। समय आने पर ही आप इस तथ्य को समझ सकेंगे।

रही वैज्ञानिक भूमिका की बात। तो, उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कतिपय वैज्ञानिक, जिनमें आइन्सटीन, जेम्स जीन्स, एडिंगटन के नाम उल्लेखनीय हैं, यह स्वीकार कर रहे हैं कि एक अतीन्द्रिय, परम बौद्धिक सत्ता इस विश्व का नियमन कर रही है। आइन्सटीन के अनुसार उस सत्ता का बोध तर्क या गणित के समीकरणों के माध्यम से नहीं, बल्कि प्रज्ञा (intuitional flight) के द्वारा होता है। आप लिंकन बारनेट द्वारा लिखी 'दि यूनिवर्स एंड डॉ. आइन्सटीन' नामक पुस्तक पढ़ लें तो इस दिशा में कुछ अभिनव प्रकाश मिल सकेगा।

क्या तुम जानते हो, तुम्हारे भीतर अभी भी कितना तेज, कितनी शक्तियाँ छिपी हुई हैं? क्या कोई वैज्ञानिक भी इन्हें जान सका है? मनुष्य का जन्म हुए लाखों वर्ष हो गये, पर अभी तक उसकी असीम शक्ति का केवल एक अत्यन्त क्षुद्र भाग ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए तुम्हें यह न कहना चाहिए कि तुम शक्तिहीन हो। तुम क्या जानो कि ऊपर दिखाई देनेवाले पतन की ओट में शक्ति की कितनी सम्भावनाएँ हैं? जो शक्ति तुममें है, उसके बहुत ही कम भाग को तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे अनन्त शक्ति और शान्ति का सागर है।

—स्वामी विवेकानन्द

आश्रम समाचार

(१ जुलाई से ३१ अगस्त १९६९ तक)

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथी विभाग-- उपर्युक्त २ माह की अवधि में कुल ६१७० रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें १५५४ रोगी नये थे। इनमें ४८ रोगी क्रानिक उदररोग से पीड़ित थे। १६७ रोगियों को निःशुल्क विभिन्न प्रकार के इंजेक्शन और टीके लगाये गये तथा ३१ दन्त-रोगियों के दाँत निकाले गये और उनका उपचार किया गया।

होमियोपैथी विभाग-- इस विभाग द्वारा २७२१ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया, जिनमें ६२१ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

३१ अगस्त को ग्रन्थालय में १२४२० पुस्तकें थीं। उपर्युक्त अवधि में २३६० पुस्तकें निर्गमित की गयीं। वाचनालय में ८२ पत्र-पत्रिकाएँ, दैनिक समाचार-पत्र आदि थे। इस अवधि में ५७६० व्यक्तियों ने वाचनालय का उपयोग किया।

३. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

आश्रम-छात्रावास में ६० विद्यार्थी हैं। उक्त अवधि में विद्यार्थियों के लिए अध्ययन-वर्ग के अन्तर्गत ३ परिसंवाद हुए तथा १ वादविवाद का कार्यक्रम आयोजित हुआ। इन कार्यक्रमों में ३४ विद्यार्थियों ने भाग लिया। उसी प्रकार छात्रों के चरित्र-निर्माण के हेतु आश्रम के व्यवस्थापकों द्वारा एक प्रश्नोत्तर-कक्षा, ३ बौद्धिक प्रवचन तथा पढ़ाई कैसे की जानी चाहिए' इस पर एक विशेष चर्चा आयोजित की गयी। साथ ही खेल-कूद की

ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। सुबह नियमित व्यायाम में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी। आलोच्य अवधि में १५ कुश्तियाँ और ४ वालीबॉल मैच भी आयोजित किये गये।

४. भवन-निर्माण-कार्य

नये सभाभवन का कार्य प्रगति पर है। ३१ अगस्त तक उस पर कुल ५३१४१)०२ की राशि खर्च हो चुकी है। आलोच्य अवधि में १३७०४) का दान उदारचेता व्यक्तियों से प्राप्त हुआ है। इस राशि में कुछ वे भी राशियाँ शामिल हैं जो विगत जनवरी माह में हुए 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' के अवसर पर वचनदान के रूप में घोषित हुई थीं।

सभाभवन का उद्घाटन नवम्बर माह में रामकृष्ण मठ व मिशन के अध्यक्ष पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज द्वारा किया जानेवाला है। सभाभवन का कार्य पूरा होने के लिए अभी और लगभग ४००००) लगेंगे। अतएव इस पुण्य कार्य में आप सभी का आर्थिक सहयोग अपेक्षित है।

५. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग—रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला का नया सत्र ६ जुलाई से प्रारम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ६, १३, २०, २७ जुलाई एवं ३, २४, ३१ अगस्त को गीता पर प्रवचन किया। गीता पर उनके अब तक कुल ६८ प्रवचन हो चुके हैं।

१७ अगस्त को श्री प्रेमचंद जैन की सरस रामायण-कथा हुई।

गुरुवासरीय सत्संग के अन्तर्गत श्री संतोष कुमार झा का १० और ३१ जुलाई को 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' पर ९ वाँ और १० वाँ प्रवचन हुआ।

१७ जुलाई और १४ अगस्त को प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा का 'हिन्दू धर्म' पर १३ वाँ और १४ वाँ प्रवचन हुआ।

२४ जुलाई, २१ एव २८ अगस्त को डा. अशोक कुमार बोरदिया ने 'पातंजल योगसूत्र' पर प्रवचन दिये। अब तक इस विषय पर उनके १९ प्रवचन हो चुके हैं।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम— आलोच्य अवधि में १० अगस्त को 'गांधी शताब्दी समारोह' तथा १५ अगस्त को 'स्वतंत्रता दिवस समारोह' का आयोजन किया गया।

'गांधी शताब्दी समारोह' के उपलक्ष में महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं तथा उनके सन्देश पर एक रोचक एवं प्रेरणादायी परिसंवाद आयोजित था। स्थानीय दुर्गा महाविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्राध्यापक श्री कृपाशंकर श्रीवास्तव ने गांधीजी के आर्थिक विचारों का विश्लेषण करते हुए बताया कि वे एक महान् अर्थशास्त्री भी थे। शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती माया अरोरा ने 'गांधी---एक सन्त' पर तथा शिक्षा महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री शमसुद्दीन ने 'गांधी---एक शिक्षाशास्त्री' विषय पर सारगर्भित विचार व्यक्त किये। गांधी शताब्दी समारोह समिति की संयोजिका श्रीमती सरस्वती दुबे ने 'गांधी—एक राष्ट्रद्रष्टा' पर तथा संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक डा नरेन्द्र देव वर्मा ने 'गांधी---एक समाज सुधारक' पर मननीय विचार प्रस्तुत किये। समारोह की अध्यक्षता महाविद्यालयीन शिक्षा के संयुक्त संचालक श्री अजित मोहन सिनहा ने की।

'स्वतत्रता-दिवस' के उपलक्ष में भी एक बड़े ही रोचक एवं शिक्षाप्रद परिसंवाद का आयोजन किया गया था जिसका विषय था—'हम असफल क्यों?' इस परिसंवाद की अध्यक्षता

रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के कुलपति श्री वंशीलाल पाण्डे ने की। अर्थनीति के क्षेत्र में असफलता के कारणों पर रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलसचिव श्री कौशलप्रसाद चौबे ने उत्कृष्ट प्रकाश डाला। आचार्य श्री राकेश मुनि ने नैतिकता के क्षेत्र में असफलता के कारणों का विवेचन किया। कृषि और खाद्य के क्षेत्र में असफलता के कारणों पर प्राध्यापक श्री उदयनारायण पाठक ने, शिक्षा के क्षेत्र में असफलता के कारणों पर प्राचार्य श्री रणवीर सिंह शास्त्री ने, धर्मनिरपेक्षता के क्षेत्र में असफलता के कारणों पर श्री सन्तोषकुमार झा ने तथा राजनीति के क्षेत्र में असफलता के कारणों पर प्राध्यापक कनककुमार तिवारी ने बड़े तर्कसंगत और पैने विचार प्रस्तुत किये।

उपर्युक्त दोनों परिसंवादों में नगर की प्रबुद्ध जनता बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थी।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम--२१ जुलाई को स्वामीजी ने दुर्गा महाविद्यालय के अन्तर्गत 'गोविन्द स्मृति भवन' का शिलान्यास किया। २३ जुलाई को उन्होंने अकलतरा (बिलासपुर) में 'विवेकानन्द अध्ययन केन्द्र' का उद्घाटन किया, तथा उसी रात्रि उन्होंने 'युगद्रष्टा विवेकानन्द' पर एक और सार्वजनिक भाषण दिया। २७ जुलाई को भिलाई स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल के तत्त्वावधान में संचालित विवेकानन्द अध्ययन वर्ग के अन्तर्गत छठा व्याख्यान दिया।

९ अगस्त को स्वामीजी खेतड़ी (राजस्थान) में थे। वहाँ के रामकृष्ण मिशन के तत्त्वावधान में दिल्ली रामकृष्ण मिशन के प्रमुख स्वामी व्योमानन्दजी की अध्यक्षता में उन्होंने 'गीतोक्त योगसाधना' पर विचार प्रकट किये। १३ अगस्त को ग्वालियर के श्रीरामकृष्ण आश्रम में भक्तों को उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण देव

का सन्देश' विषय पर सम्बोधित किया। १४ अगस्त को ग्वालियर के सिन्धिया बालमन्दिर में 'बच्चों के विवेकानन्द' पर तथा ३ बजे कृषि महाविद्यालय में 'युगद्रष्टा विवेकानन्द' पर उनके भाषण हुए। शाम को ७ बजे रोटरी क्लब द्वारा आयोजित सार्वजनिक सभा को चेम्बर ऑफ कामर्स हॉल में उन्होंने 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' विषय पर सम्बोधित किया।

१५ अगस्त के पावन पर्व पर उन्होंने शासकीय महिला महाविद्यालय, मुरार में ध्वजोत्तोलन किया तथा छात्रा-संघ की नवनिर्वाचित पदाधिकारियों को शपथ दिलायी। उसी दिन दस बजे दिन को रामकृष्ण आश्रम के बाल-मन्दिर को भेंट दी। शाम को ५॥ बजे भंगी कालोनी में, जिलाध्यक्ष श्री निवारण नाथ टण्डन की अध्यक्षता में, पेयजल एवं विद्यालय इन दो नवीन कार्यों का उद्घाटन किया तथा शाम को ७ बजे आश्रम में समवेत श्रोताओं की बड़ी संख्या को आध्यात्मिक जीवन पर सम्बोधित किया।

स्वामीजी १६ अगस्त को इन्दौर में थे। वहाँ यूनिवर्सिटी हॉल में उन्होंने १६, १७, १८ और १९ अगस्त को क्रमशः श्रीरामकृष्ण की सिखावन, युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द, क्रान्तिकारी कृष्ण तथा मानवजीवन का प्रयोजन इन विषयों पर अत्यन्त विज्ञानसम्मत, उद्बोधक और प्रभावी व्याख्यान दिये। पहले ही दिन से श्रोताओं की इतनी भीड़ हुई कि शेष दिन कुर्सियों को निकालकर नीचे बैठने की व्यवस्था करनी पड़ी। स्थानाभाव के कारण हॉल के बाहर भी लोग बड़ी संख्या में बैठे थे।

३१ अगस्त को उन्होंने विवेकानन्द अध्ययन वर्ग, भिलाई के अन्तर्गत ७ वाँ व्याख्यान दिया।

●